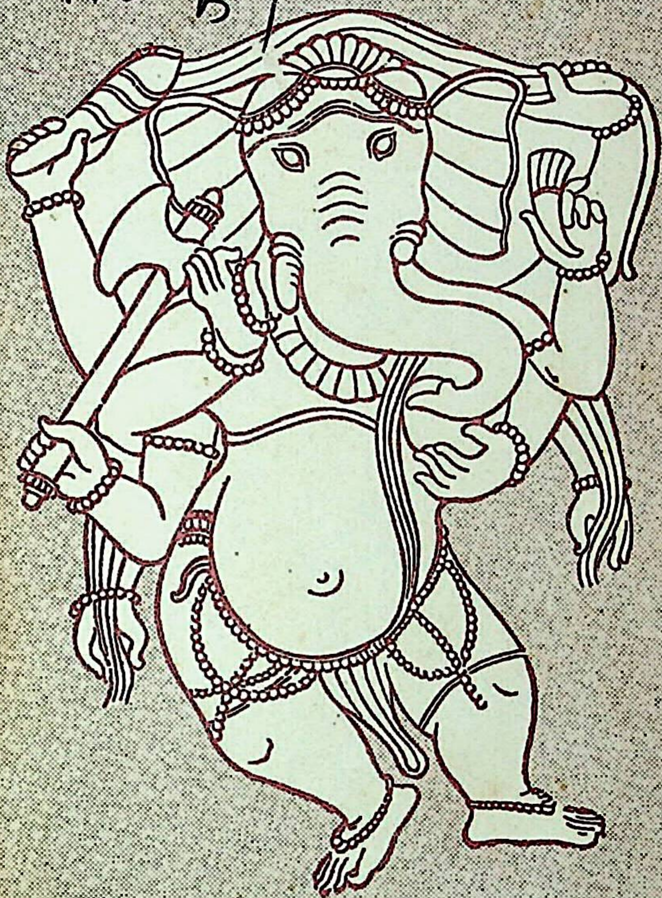


संस्कृति प्रवाह

संस्कृति-प्रवाह

सम्पादक

प्रो० सोमेश्वर

अभिनव साहित्य प्रकाशन, वाराणसी

संस्करण : १९९८ ई०

वितरक

विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी

प्रकाशक

अभिनव साहित्य प्रकाशन, चौक, वाराणसी

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रानिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०, वाराणसी

निवेदन

संस्कृति राष्ट्र की आत्मा की दूसरी संज्ञा है। अपने देश की सांस्कृतिक परम्पराओं के ज्ञान के अभाव में व्यक्ति की शिक्षा अधूरी है। देश की भावनात्मक एकता का मूल आधार भी संस्कृति एवं साहित्य ही है। हमारा महिमामय विशाल राष्ट्र सांस्कृतिक दृष्टि से सदैव एक सूत्र में बँधा रहा है। आज ही हम इस महामानव-समुद्र की विविध लहरियों को सांस्कृतिक स्तर पर ही एक पूर्ण इकाई के रूप में लक्षित कर सकते हैं।

सांस्कृतिक मूल्यों की उपलब्धि का सर्वश्रेष्ठ माध्यम साहित्य है। प्रस्तुत कृति में भारतीय संस्कृति के प्रवहमान और विकसनशील स्वरूप को प्रारम्भ में कथाओं एवं एकांकी नाटकों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। कृति में संगृहीत रचनाओं के लेखक अपने-अपने विषय के अधिकारी विद्वान् एवं हिन्दी के प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं। इस प्रकार इस कृति के पाठकों को अनेक साहित्यिक व्यक्तियों से मानस-साक्षात्कार का अवसर भी प्राप्त होगा।

प्रस्तुत कृति भारतीय संस्कृति के प्रति जिज्ञासु प्रत्येक पाठक के लिए समान रूप से उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसा हमारा विश्वास है। हिन्दीतर प्रदेशों के निवासी भी इसे पढ़कर हिन्दी-साहित्य के माध्यम से भारतीय संस्कृति एवं धर्म की मूल विशेषताओं को समझ सकेंगे। इस विश्वास के साथ हम अपने इस सर्वथा मौलिक प्रयास को पाठकों के हाथ में सौंपते हैं।

सम्पादक

अनुक्रम

१

शुनःशेप की कहानी†

इक्ष्वाकु वंश का राजा हरिश्चन्द्र, वेधस् का पुत्र, अपुत्र था। उसके सौ स्त्रियाँ थीं। उसके कोई पुत्र न हुआ। उसके घर में पर्वत और नारद ऋषि आकर रहे। राजा ने नारद से पूछा—

जो जानें, जो नहीं जानें, पुत्र को सब चाहते।
कहिए नारद मुझे, पुत्र से फल क्या मिले॥

एक गाथा कहकर उससे पूछा गया था, उसने दस में उत्तर दिया—

ऋण को उस धरता, औ पाता अमृतत्व को।
पिता जो अपने जाए पुत्र का मुख देख ले॥
जितने भोग पृथ्वी में, अग्नि में, जल में तथा।
जीवों को, उनसे बढ़के पिता को पुत्र में मिले॥
तरा घोर अँधेरे को पुत्र से नित्य बाप ने।
आत्मा से जन्मता आत्मा, यह नौका तरावनी॥
'क्यों मैले रहते? विप्रो! धर्म क्यों? केश क्यों बढ़े?
तप क्यों? सुत ही चाहो' — यों हैं लोक बखानते॥
अन्न जिलावे, वस्त्र ढँके तन, रूप स्वर्ण दे, भार वहें पशु।
दयापात्र बेटी, स्त्री साथी, पुत्रज्योति है लोक परम में॥
जाया में पति बैठे हैं गर्भ हो, मा करे उसें।

† ऐतरेय ब्राह्मण से उद्धृत (ऐ० ब्रा०, ७वीं पंचिका, तीसरा अध्याय)।

उसीमें फिर नया हो के दसवें मास जन्मता ॥
जाया जाया कहाती है कि उसमें फिर जन्म हो ।
बढ़ती महिमा की है, बढ़ती घृतवीर्य को ॥
ऋषियों देवताओं ने महातेज दिया उसे ।
देव बोले मनुष्यों से 'जनेगी फिर तुम्हें यही' ॥
अपुत्र का ठिकाना न पशु सब जानते यही ।
सुत जोड़ा करे उनमें मा बहन से इसीलिये ॥
मार्ग बड़ा बहुतों का गाया जिस पर सुतयुत चलें अशोक ।
इसको पशु-पक्षी भी जानें तो ही वे करते जननी योग ॥

यों कहकर उसे कहा कि 'वरुण राजा से प्रार्थना कर कि मेरे पुत्र हो तो उसे तुझे चढ़ाऊँ ।' 'अच्छा' वह वरुण राजा के पास गया और यही विनती की कि 'मेरे पुत्र हो जाय, उससे तेरा याग करूँ ।' उसके रोहित नाम का पुत्र हुआ । वरुण ने राजा से कहा—'तेरे पुत्र जन्मा उससे मेरा याग कर ।' राजा ने कहा कि 'जब पशु दस दिन से बढ़ जाता है तब वह यज्ञ के योग्य होता है । दस दिन लाँघने दो तब तुझे यजूँ ।' 'ठीक है' वह दस दिन का हो गया । वरुण ने राजा से कहा—'दस दिन को लाँघ गया, अब मुझे इससे यज ।' राजा बोला—'जब पशु के दाँत निकल आते हैं तब वह यज्ञ के योग्य होता है, दाँत इसके हो जाँय तब तुझे यजूँ ।' 'ठीक है ।' उसके दाँत हो गए । वरुण ने राजा से कहा—'उसके दाँत हो गए हैं, अब मुझे इससे यज ।' राजा बोला—'जब पशु के दाँत गिर जाते हैं, तब वह मेध के योग्य होता है, दाँत इसके गिर जाँय तब तुमको इससे यजूँ ।' 'ठीक है ।' उसके दाँत भी गिर गए । वरुण ने राजा से कहा—'इसके दाँत गिर गए हैं, अब मुझे इससे यज ।' राजा बोला—'जब पशु के दाँत फिर उग आते हैं तब वह मेध्य होता है, दाँत इसके फिर हो जाँय तब तुमको इससे यजूँ ।' 'अच्छा' । उसके दाँत फिर निकल आए । वरुण ने राजा से कहा—'फिर इसके दाँत निकल आए हैं, अब मुझे इससे यज ।' वह बोला—'जब क्षत्रिय कवचधारी होता है तब वह मेध्य होता है, कवच पाने का उठान इसे पाने दो तब तुमको इससे यजूँ ।' 'अच्छा ।' वह कवच पा

गया। वरुण बोला—'अब यह कवच पा गया है, इससे मुझे यज।' यों कहते ही उसने बेटे को बुलाया और कहा—'लाल, तुझको मुझे इसने दिया है, तुझसे मैं अब इसे यजूँगा।' वह 'नहीं' कहकर धनुष तानकर वन में चला गया। वहाँ वह वर्षभर घूमता फिरा। इधर इक्ष्वाकुवंशी राजा को वरुण ने धर लिया और उसे जलोदर हो गया। यह रोहित ने सुना। वह जंगल से बस्ती में आया। उसके पास इन्द्र पुरुष के रूप से आकर बोला—

श्रमी को रोहित ! सुना लक्ष्मी बहुविध मिले।
बैठा निगोड़ा पापी है, फिरते का मित्र इन्द्र है॥

तू घूमता रह। 'मुझे ब्राह्मण ने कहा है कि घूमता रह', इसलिए वह दूसरे वर्ष भी वन में रहा। फिर जब वह वन से बस्ती में आया तो इन्द्र पुरुष-रूप से सामने आकर बोला—

घूमते की जाँघ फूले, बढ़े आत्मा मिले फल।
सो जात पाप सब उसके, श्रम से मार्ग में हने॥

तू घूमता रह। 'मुझे ब्राह्मण ने कहा है कि विचरता रह', इसलिए वह तीसरे वर्ष भी वन में रहा। वह जब पुनः वन से बस्ती को आया तो इन्द्र ने पुरुष-रूप से आकर कहा—

बैठे का भाग्य बैठा है, खड़े का भाग्य हो खड़ा।
पड़े का भाग्य सोता और चलते का बढ़ा करे॥

तू घूमता ही रह। 'मुझे ब्राह्मण ने कहा है कि विचरता रह', इसलिए वह चौथे वर्ष भी वन में रहा। फिर वह वन से बस्ती को आया तो उससे इन्द्र पुरुष-रूप से आकर बोला—

सोता कलि कहता है, द्वापर स्थान छोड़ता।
त्रेता वह खड़ा जो हो चलता कृत की बने॥

अथवा

(राजसूय में जो पासों के नाम और अर्थ कहे हैं, उसके अनुसार—)
'कलि' सोया, 'द्वापर' चला, 'त्रेता' तो है अभी खड़ा।
'कृत' बढ़ता चला आता, जीत की आस पूर्ण है॥

घूमता ही रह। 'तू घूमता ही रह' यह मुझे ब्राह्मण ने कहा है,

ऐसा सोचकर वह पाँचवें वर्ष भी वन में फिरा । वह अरण्य से बस्ती को आया तो इन्द्र ने पुरुष-रूप से आकर कहा—

विचरे मधु को पावे, मीठे फल उदुम्बर ।
सूर्य की महिमा देखी, घूमता ऊँघता नहीं ॥

घूमता ही रह । 'मुझे ब्राह्मण ने कहा है कि घूमता ही रह', यह सोचकर वह छठें वर्ष जंगल में फिरा । वहाँ जंगल में उसे भूख से मरता हुआ सुयवस का पुत्र अजीगर्त ऋषि मिला । उसके तीन पुत्र थे । रोहित ने उससे कहा—'ऋषि मैं तुझे सौ (गौएँ) दूँगा, इनमें से एक के बदले अपने को बेंच बचाऊँगा ।' वह बड़े पुत्र को पकड़कर बोला—'इसे तो नहीं' और छोटे को 'इसे भी नहीं' यों माता बोली । वे दोनों बिचले शुनःशेप पर राजी हो गए । उसका सौ देकर, उसको लेकर, वह वन से ग्राम को आया । आकर वह पिता से बोला—'तात, मैं इससे अपने को बदल बेचता हूँ ।' वह उसीको ले वरुण राजा के पास पहुँचा कि 'इससे तुझे यजूँ ।' वरुण ने कहा—'अच्छा, क्षत्रिय से ब्राह्मण बढ़कर है ।' और राजा को राजसूय यज्ञ समझाया । राजा ने उसे अभिषेचनीय (अभिषेक) के यज्ञ में पशु की जगह उस पुरुष को पकड़ा (बलि के लिए) ।

राजा के यज्ञ में विश्वामित्र होम करनेवाला, जमदग्नि यज्ञ का प्रबन्ध करनेवाला, वशिष्ठ भला-बुरा देखनेवाला और अयास्य साम गानेवाला था । जब शुनःशेप को मन्त्रित किया गया तो उसे खूँटे से बाँधनेवाला कोई न मिला । सुयवस का पुत्र अजीगर्त बोला—'मुझे और सौ दो, मैं इसको बाँध दूँगा ।' उसे और सौ (गौएँ) दीं, उसने बाँध दिया । जब उसे मन्त्रित कर दिया, बाँध दिया, आप्री मन्त्र पढ़ दिये गये और उसके चारों ओर आग घुमा दी गयी तो कोई उसे मारनेवाला न मिला । सुयवस का पुत्र अजीगर्त बोला—'मुझे और सौ दो, मैं इसे काट दूँगा ।' उसे और सौ दिये । वह खड्ग पर धार देता हुआ आया । अब शुनःशेप ने सोचा, 'नहीं, मनुष्य (= पशु) की तरह ही ये मुझे काटना चाहते हैं, भला मैं देवताओं को तो पुकारूँ ।' वह पहले देवताओं में प्रथम, प्रजापति के पास पहुँचा (स्तुति की) । इस मन्त्र से—

अमृतों में किस देव, कौन से का हम ध्यावें सुन्दर नाम ?
कौन मुझे फिर देय अदिति को, माता-पिता को देखूँ जाय ॥
(ऋग्वेद १।२४।१)

उसे प्रजापति ने कहा— 'अग्नि देवताओं में से सबसे पास है, उससे प्रार्थना कर।' उसने इस मन्त्र (ऋग्वेद १।२४।२) से अग्नि की प्रार्थना की—

अमृतों में से प्रथम, अग्नि का हम ध्याते हैं सुन्दर नाम ।
वही मुझे फिर देय अदिति को, माता-पिता को देखूँ जाय ॥

अग्नि ने उसे उत्तर दिया—'सविता सब जन्मवालों का स्वामी है, उसी के पास जा।' उसने 'अभित्वा देव सवितः' इन तीन मन्त्रों से सविता की प्रार्थना की (ऋग्वेद १।२४।३-५) । सविता ने उसे उत्तर दिया—'राजा वरुण के लिए बाँधा गया है, उसी के पास जा।' उसने इसके आगे के इकतीस मन्त्रों (ऋ० १।२४।६-१।२५।२१) से राजा वरुण की स्तुति की । उसे वरुण ने कहा —'अग्नि देवताओं का मुख है, सबसे सहृदय है, उसकी स्तुति कर, फिर तुझे छोड़ देंगे।' उसने उसके आगे के बाईस मन्त्रों से अग्नि की स्तुति की (ऋग्वेद १।२६।१-१।२७।१२)। उससे अग्नि ने कहा—'विश्वदेवों की स्तुति कर, फिर तुझे छोड़ देंगे।' उसने विश्वदेवों की स्तुति की—'नमः बड़ों को, नमः छोटों को' इस ऋक् से (१।२७।१३) । उसे विश्वदेवों ने कहा—'इन्द्र सब देवों में सबसे बलवान्, तेजवाला, सहनेवाला, सच्चा और पार पहुँचानेवाला है, उसकी स्तुति कर, फिर तुझे छोड़ देंगे।' उसने इन्द्र की स्तुति (ऋग्वेद १।२६ से और १।३० के पन्द्रह मन्त्रों से) की । इन्द्र ने उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर उसे सोने का रथ दिया । इस वर को उसने (ऋग्वेद १।३०।१६ से) स्वीकार किया । उसे इन्द्र ने कहा—'अश्विनों की स्तुति कर, फिर तुझे छोड़ देंगे।' उसने इसके आगे के तीन मन्त्रों (ऋग्वेद १।३०।१७-१९) से अश्विनों की स्तुति की । अश्विनों ने उसे उत्तर दिया—'उषा की स्तुति कर, फिर तुझे छोड़ देंगे।' उसने इसके आगे के तीन मन्त्रों (ऋग्वेद १।३०।२०-२२) से उषा की स्तुति की । उसकी एक ऋक् कहते ही पाश ढीले पड़ गये और वह खुल गया और राजा इक्ष्वाकुवंशी का पेट हल्का

होने लग गया। और अन्तिम ऋक् के कहते ही पाशों से छूट गया और इक्ष्वाकु नीरोग हो गया।

ऋत्विजों ने अब शनुःशेप से कहा—'तुम ही हमारी आज इस दिन की संस्था (प्रधानता) को लो।' तब शुनःशेप ने सोमरस जल्दी निकालने की चाल निकाली और ऋग्वेद १।२८।५-८ की इन चार ऋचाओं से सोम को कूट निचोड़ा और फिर ऋग्वेद १।२८।६ से उस सोम को द्रोणकलश में डाला। जब राजा हरिश्चन्द्र ने उसे छू लिया तब उसने 'स्वाहा' कहकर ऋग्वेद १।१।४-५ इन दो मन्त्रों से अवभृथ-स्नान कराया और फिर 'शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्रात्' इस मन्त्र (ऋ० ५।२।७) से आहवनीय अग्नि के पास पहुँचाया।

अब शुनःशेप विश्वामित्र की गोद में जा बैठा। सुयवस का पुत्र अजीगर्त बोला—'ऋषे, मेरे पुत्र को लौटा दो।' विश्वामित्र ने कहा—'नहीं, देवताओं ने मुझे यह दिया है। वह विश्वामित्र का पुत्र देवरात हुआ, जिसके वंश में ये कापिलय और बाभ्रव हैं। सुयवस के पुत्र अजीगर्त ने फिर कहा कि 'आ जा, हम दोनों तुझे बुलाते हैं।' और भी उसने कहा—

जन्म से अंगिरागोत्री मेरा पुत्र प्रसिद्ध तू।
ऋचे, कबे, लौट, मत जा दादा की तंतु से परे॥

शुनःशेप ने कहा—

देखा तुझे खंग लिए शूद्रों में भी न ये मिले।
अंगिरः! तीन सौ गौएँ मुझसे श्रेष्ठ मान लीं॥

अजीगर्त सौयवसि बोला—

लाल! मुझे जलाता है पाप कर्म किया हुआ।
मिटाना चाहता दोष वह सौ गौ तुम्हें मिलें॥

शुनःशेप ने उत्तर दिया—

एक जो पाप कर ले, दूसरा वह फिर करे।
न हटा शूद्र-अन्याय से तू सन्धि न हो सके॥

'अवश्य यह काम सन्धि के योग्य नहीं है', यह विश्वामित्र ने भी कहा। और कहा—

अजीगर्त महाभीम खड्ग से काटने खड़ा।
दीखे था, पुत्र इसका हो मत, मेरा बनो सुत॥

शुनःशेप बोला—

राजपुत्र मुझे आप समझ कह दीजिए।
न खोऊँ अंगिरा गोत्र, हो जाऊँ पुत्र आपका॥

विश्वामित्र ने कहा—

तू जेठा पुत्र मेरो में, तेरी सन्तान श्रेष्ठ हो।
दैवी संपत्ति मेरी ले, हो उससे अभिमंत्रित॥

शुनःशेप ने कहा—

मान लें पुत्र तेरे जो तो मुझे श्री प्रसाद हो।
कह दो भरतश्रेष्ठ उन्हें क्योंकर बना सुत॥

अब विश्वामित्र ने पुत्रों को सम्बोधन किया—

मधुच्छंदा सुनो बात रेणु ऋषभ अष्टक।
जितने तुम भाई हो इससे ज्येष्ठ ना बनो॥

ऋषि विश्वामित्र के सौ पुत्र थे—पचास मधुच्छंदस से बड़े, पचास छोटे। जो बड़े थे, उन्होंने यह भला न माना। विश्वामित्र ने उन्हें शाप दिया कि 'तुम्हारी सन्तान अन्त्य (जाति) को भोगेगी। वे ये अंध्र, पुंग्, शर, पुलिंद, मूतिब, चोरों से भरे हुए बहुत अंत्य (अन्त जाति या अन्त देशवाले) विश्वामित्र के वंश के हैं।' मधुच्छंदस पचास छोटों के साथ बोला—

जो हमारा पिता माने उस पर हम हैं खड़े।
आगे करें आपको जो पीछे हैं हम आपके॥

विश्वामित्र ने प्रसन्न होकर अपने पुत्रों की स्तुति की—

'पुत्रों तुम पशुओंवाले पुत्रोंवाले सदा रहो।
क्योंकि मेरी बात मानी वीर वाला मुझे किया॥
गाथिपुत्रो ! देवरात अग्रणी से समृद्ध हो।
रहोगे, सुतवालो ! यह ले जावे सत्यमार्ग में॥

वीर तुममें देवरात कुशिको ! इस पर चलो ।
पाये ये तुमको, मेरे दाय को, सब ज्ञान को ॥
सीधे विश्वामित्र-पुत्रश्रेष्ठ गिन देवरात को ।
गाथिपौत्र धनी साध कीर्ति सम्पत्तिवान् हुए ॥
ऋषि दोनों बपौती का कहाता देवरात यों ।
जह्नु गोत्री राजपति औ विद्यापति गाथिका ॥

यह सौ ऋचाओं से ऊपर गाथाओंवाला शुनःशेप का उपाख्यान है, जिसे 'होता' अभिषेक के पीछे राजा को सुनावे । सोना मढ़ी हुई गद्दी पर बैठकर होता इसे कहता है और सोना मढ़ी हुई गद्दी पर बैठकर ही 'अध्वर्यु' इसके उत्तर देता है । होता ऋक् सुनावे तो अध्वर्यु 'ओम्' कहे और गाथा पढ़े तो 'यों ही, वैसे ही' कहकर हुँकारा भरे । राजा जब जीते, चाहे वह यज्ञ न करे तो भी, यह शुनःशेप की कथा कहलावे, उसमें तनिक भी पाप नहीं बच रहता । कहनेवाले को सौ गायें दे और उत्तर में 'हाँ' 'हूँ' कहनेवाले को सौ । वे दोनों आसन उन्हें प्रत्येक को दे दे और चाँदी से मढ़ा हुआ खच्चरों का एक रथ होता को । पुत्र चाहनेवाले भी इस कथा को कहलावें तो वे पुत्रों को पाते हैं ।

इस कथा को पढ़कर यह अनुमान करना भूल है कि मनुष्य-बलि प्रायः होती थी । प्रत्युत काटनेवाले का न मिलना आदि बातें इस घटना का निरालापन दिखाती हैं । यह कहानी दिखाती है कि दीनता और भूख मनुष्य को किस नीच कर्म करने तक पहुँचा देती है, कैसे परिश्रम से खोजनेवाले को सब-कुछ मिलता है; कैसे दृढ़ मनुष्य देवताओं को प्रसन्न कर लेता है और कैसे अपने पिता के हाथ से मारे जाने से बचकर अपनी विद्या के बल से संस्थापित और दो कुलों का स्वामी हो सकता है । राजा को अभिषेक के पीछे इस कथा को सुनाने का तात्पर्य यह है कि वह हरिश्चन्द्र की-सी भयंकर प्रतिज्ञा कभी न करे, आपत्ति आने पर भी निराश न हो, रोहित की तरह घूमता रहे और अपने सुराज्य से ऐसा अवसर न दे कि लोग भूख के मारे अजीगर्त के-से नरपिशाच बन जाँय ।

२

रघु और कौत्स

बात आजकल की नहीं, सौ-दो सौ वर्ष की भी नहीं। उसे हुए हजारों वर्ष बीत गये। उस समय राजा रघु का राज्य था। ससागरा पृथ्वी के वे पति थे। साकेत नगरी उनकी राजधानी थी। सत्पात्रों को दे डालने के लिए ही धनोपार्जन करते थे, प्रजा के काम में लगा देने के लिए ही वे कर लेते थे, निर्बलों को प्रबलों के उत्पीड़न से बचाने के लिए ही वे धनुर्बाण धारण करते थे। विद्वानों को प्यार वे अपने प्राणों से भी अधिक करते थे, उन्हें वे देवता समझते थे, उनके पैर तक अपने हाथों से धोते थे। यह मजाल न था कि आरण्यवाणी विद्वानों के लगाये हुए एक छोटे-से पौधे की एक टहनी भी कोई तोड़ ले—उनके खेतों से साँवाँ की एक बाल भी कोई चुरा ले जांय।

बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी विद्वान् बड़ी-बड़ी बस्तियों में उस समय न रहते थे। बस्ती से कुछ दूर जंगल में वे अपनी पर्णशालायें बनाते थे। साँवाँ, कोदो और कँगनी की वे खेती करते थे। गायें भी वे पालते थे। उनके पास सैकड़ों नहीं, हजारों विद्यार्थी रहते थे। वे उन्हें विद्या का भी दान देते थे और भोजन-वस्त्र का भी। अन्याय, उत्पीड़न और चौर-कर्म का कहीं नाम न था। यज्ञ के पावन धूम से आसपास का प्रदेश सुरभित रहता था। वेद-घोष से दिशाएँ गुञ्जायमान रहती थीं। आचार्यों की आज्ञाएँ पालन करने में चक्रवर्ती राजा तक अपनी कृतार्थता मानते थे। ऐसे समय के भारत की एक झलक देखिए।

राजा रघु ने अपनी सारी संपत्ति विश्वजित् नामक यज्ञ में दे डाली है। पास कुछ भी नहीं रखा। पानी पीने के लिए पीतल का लोटा भी नहीं रह गया। रह क्या गया है ?—मिट्टी का कसोरा, मिट्टी ही की हाँड़ी, मिट्टी ही की थाली।

इस प्रकार सर्वस्व दान देकर आप रिक्त-हस्त हो गये हैं।

इसी समय वरतंतु नाम के बड़े तपस्वी और बड़े विद्वान् महात्मा राजा रघु के राज्य में तपश्चर्या और अध्यापन का काम करते हैं। आश्रम उनका जंगल में है। खेत-पात भी उनके वहीं हैं। अनेक ब्रह्मचारी आपके आश्रम में रहते और अध्ययन करते हैं। वरतंतु ऋषि की विद्वत्ता का यह हाल है कि वे चौदहों विद्याओं के निधान हैं। तप उनका इतना बढ़ा-चढ़ा है कि उनके डर से इन्द्र का आसन डिग रहा है। 'कहीं इतना घोर तप करके ये मेरा इन्द्रत्व तो नहीं छीन लेना चाहते', इस डर से सुरेन्द्र को अप्सराओं की शरण लेनी पड़ी। पर वरतंतु जी के सामने उनकी एक भी न चली। वे अपना-सा मुँह लेकर लौट गईं। इन्द्र का वह भय सर्वथा निर्मूल था। इन्द्रासन पाने की इच्छा अल्प पुण्यात्माओं को ही हुआ करती है; वरतंतु जी ऐसे को नहीं।

वरतंतु के आश्रम में कौत्स नाम का एक विद्यार्थी है। जब उसका अध्ययन समाप्त हो गया और वह पूर्ण विद्वान् होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने योग्य हुआ तब वरतंतु ने उसे घर जाने की आज्ञा दी। कौत्स ने भक्तिभाव के उन्मेष में आकर प्रार्थना की—

'आचार्य ! मुझसे कुछ गुरु-दक्षिणा लीजिए। आपकी कृपा से मैं मूर्ख से पंडित हो गया। अतएव मेरी हार्दिक इच्छा है कि मैं पत्र-पुष्परूपी थोड़ी-सी पूजा आपकी करूँ।'

वरतंतु : 'वत्स, तुमने मेरे आश्रम में इतने दिन तक रहकर जो मेरी सेवा-शुश्रूषा की है, उसीको मैं सबसे बड़ी गुरु-दक्षिणा समझता हूँ। वही क्या कम है ?'

कौत्स : 'नहीं आचार्य ! कुछ आज्ञा तो अवश्य ही दीजिए, कृपा कीजिए । मेरा जी नहीं मानता !'

वरतंतु : कौत्स, दक्षिणा की अपेक्षा शिष्य की भक्ति मुझे विशेष सन्तोषदायिनी है । उसके मुकाबले में दक्षिणा कोई चीज नहीं । तुमसे मैं कुछ नहीं चाहता ।'

कौत्स : महाराज, आपको मेरा अनुरोध मानना ही पड़ेगा । मुझे अपना सेवक समझकर कुछ अपने मुँह से जरूर कहिये ।'

शिष्य के इस हठ को देखकर आचार्य का महासागर सदृश शान्त चित्त भी क्षुब्ध हो उठा ।

अतिशय रगड़ करे जो कोई,
अनल प्रकट चन्दन से होई ।

उन्हें रोष हो आया । उन्हें कौत्स की गरीबी का कुछ भी ख्याल न रहा । वे बोले—'अच्छी बात है । तू गुरु-दक्षिणा दिये बिना जो घर नहीं जाना चाहता तो अब देकर जाना ! मैंने तुझे चौदह विद्याएँ पढ़ाई हैं, अतएव एक-एक विद्या के बदले एक-एक करोड़ रुपया मुझे ला दे ।'

कौत्स इस आज्ञा को सुनकर जरा भी नहीं घबराया । उसने—'जो आज्ञा'—कहकर गुरु को प्रणाम किया और वहाँ से चल दिया । जिस ब्राह्मण-कुमार के पास कौपीन, कमण्डलु और पलाशदण्ड के सिवा और कुछ नहीं था, उसने चौदह करोड़ अशर्फियाँ अपने विद्या-गुरु को देने की दृढ़ प्रतिज्ञा की ।

चौदह करोड़ दे डालना ऐसे-वैसे आदमी का काम नहीं । राजाओं के लिए भी इतना बड़ा दान देना कठिन काम है । यही सोचकर कौत्स ने राजा रघु से याचना करने का निश्चय किया । राजा रघु की जो स्थिति उस समय थी, उसका उल्लेख ऊपर किया ही जा चुका है । परन्तु कौत्स को इसकी कुछ भी खबर न थी । अतएव वह गुरु-दक्षिणा के लिए धन प्राप्त करने के इरादे से रघु के पास पहुँचा ।

जिस रघु के खजाने में कुछ समय पहले सोने के ढेर-के-ढेर भरे

हुए थे, उसके खाने-पीने के पात्र भी सोने ही के होंगे, इसमें क्या सन्देह हो सकता है ? परन्तु वह समय सुवर्ण-संचय का न था। वह तो सारा-का-सारा दिया जा चुका था। अब रघु के पास पात्र थे मिट्टी के। वे यद्यपि चमकदार न थे, तथापि रघु का शरीर उसके अत्युज्ज्वल यश से जरूर खूब चमक रहा था। उसके शील-स्वभाव का क्या कहना है ? अतिथियों का—विशेष करके विद्वान् अतिथियों का—सत्कार करना वह अपना बड़ा कर्त्तव्य समझता था। इस कारण जब उसने उस वेद-शास्त्रसम्पन्न कौत्स के आने की खबर सुनी, तब उन्हीं मिट्टी के पात्रों में अर्घ्य और पूजा की सामग्री लेकर वह उठ खड़ा हुआ। उठा ही नहीं, उठकर कुछ दूर तक गया भी और उस तपोधनी अतिथि को साथ लिवा लाया। रघु यद्यपि उस समय सुवर्ण-सम्पत्ति से धनवान् न था, तथापि मानरूपी धन को भी जो धन समझते हैं, उनमें वह सबसे बढ़-चढ़कर था। महामानधनी होने पर भी रघु ने उस तपोधनी ब्राह्मण की विधिपूर्वक पूजा की। विद्या और तप के धन को उसने औरसब धनों से बढ़कर समझा। चक्रवर्ती राजा होने पर भी रघु को अभ्यागत के आदरातिथ्य की क्रिया अच्छी तरह मालूम थी। अपने इस क्रियाज्ञान का यथेष्ट उपयोग करके रघु ने कौत्स को प्रसन्न किया। जब वह स्वस्थ होकर आसन पर बैठ गया, तब रघु ने नम्रतापूर्वक, भृकुटी या हाथ के इशारे से नहीं, किन्तु वाणी द्वारा कुशल-समाचार पूछना आरम्भ किया। इतना ही नहीं, राजा ने हाथ भी जोड़ने की जरूरत समझी। विद्वान् और तपस्वी की महिमा तो देखिए।

'हे कुशाग्रबुद्धे ! कहिये, आपके गुरु तो मजे में हैं ? वे एक असाधारण विद्वान् हैं, वे सर्वदर्शी महात्मा हैं। जिन-जिन ऋषियों ने वेदमन्त्रों की रचना की है, उनमें उनका स्थान सबसे ऊँचा है। मन्त्रकर्ताओं नें वे सबसे श्रेष्ठ हैं। जिस तरह सूर्य से प्रकाश प्राप्त होने पर यह सारा जगत् सुबह सोते से जाग पड़ता है, ठीक उसी तरह आप अपने पूजनीय गुरु से समस्त ज्ञानराशि प्राप्त करके और अपने अज्ञान-जात अन्धकार को दूर करके जाग-से उठे हैं। ज्ञानावस्था की प्राप्ति बड़ी ही सुखदायक होती है, उसकी महिमा अवर्णनीय है। एक तो आपकी बुद्धि, स्वभाव

से ही कुश की नोक के समान तीव्र, फिर महर्षि वरतंतु से अशेष-ज्ञान की प्राप्ति ! क्या कहना है ? महाराज, आप धन्य हैं।

'हाँ महाराज ! यह तो कहिये—आपके विद्या-गुरु महर्षि वरतंतु की तपस्या का क्या हाल है ? उनके तपश्चरण में बाधक कोई विघ्न तो उपस्थित नहीं—विघ्नों के कारण तपश्चर्या में कुछ कमी तो नहीं आती ? मैं नहीं चाहता कि उसमें किसी तरह का व्याघात पड़े; क्योंकि ऐसे-ऐसे महात्मा मेरे राज्य के भूषण हैं। उनके कारण मैं अपने को बड़ा भाग्यशाली समझता हूँ।

'आपके आश्रम के पेड़-पौधे तो हरे-भरे हैं ? सूखे तो नहीं ? आँधी और तूफ़ान आदि से उन्हें हानि तो नहीं पहुँची—आश्रम के इन पेड़ों से बहुत आराम मिलता है। आश्रमवासी तो इनकी छाया से आराम पाते ही हैं, अपनी शीतल छाया से पथिकों के श्रम का भी परिहार करते हैं। इनके इसी गुण के कारण महर्षि ने इन्हें बच्चों की तरह पाला है। थाले बना-बनाकर उन्होंने इनको समय-समय पर सींचा है; तृण की टट्टियाँ लगाकर जाड़े से इनकी रक्षा की है; काँटों से घेरकर इन्हें पशुओं से खा लिये जाने से बचाया है।

'आपके तीर्थ-जलों की क्या हालत है ? उनमें कोई खराबी तो नहीं ? वे सूख तो नहीं गये ? पशु उन्हें गँदला तो नहीं करते ? इन तीर्थ-जलों को—इन तड़ागों और बावलियों को—मैं आपके बड़े काम का समझता हूँ। इन्हींका जल आपके स्नानादि के नित्य काम आता है। पितरों का तर्पण भी आप इसी से करते हैं। इन्हींके किनारे रेत पर आप अपने खेतों की उपज का षष्ठांश राजा के लिए छोड़ देते हैं।

'बलि-वैश्वदेव के समय अतिथि आ जाने से उसे विमुख जाने देना मना है। अतएव जिस जंगली तृण, धान्य (साँवाँ, कोदो आदि) से आप अपने शरीर की भी रक्षा करते हैं और अतिथियों की भी क्षुधा शान्त करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं, उसे भूल से छूट आये हुए गाँव और नगर के पशु आ तो नहीं जाते ?'

इन ऋषियों के उदर-निर्वाह की साधन-सामग्री को तो देखिये। वे खाते क्या थे—मक्का, कँगनी और साँवाँ ! पर विद्वत्ता उनकी ऐसी थी कि साकेत के चक्रवर्ती राजा उनके पैर अपने हाथ से धोते थे ! उनकी तपस्या का यह हाल था कि सुरराज इन्द्र भी उसे देखकर कम्पित होते थे ! जान पड़ता है, ये ऋषि अनाज काटकर या तो वहीं खेत ही में रखते थे, या आश्रम के हाते में किसी खुली जगह या वहीं कहीं छप्परों के नीचे। अन्यथा नगर की गाय-भैंसों से उनके खाये जाने का डर न होता। इससे सिद्ध है कि उस समय चोरी का तो कुछ जिक्र ही नहीं, पशु भी ऋषियों के आश्रम तक नहीं पहुँचने पाते थे। उनके मालिक उनकी रखवारी का बड़ा ही अच्छा बंदोबस्त रखते थे। बहुत सम्भव है, इसमें गफलत होने पर उन्हें सख्त राजदण्ड भोगना पड़ता रहा हो।

'सब विद्याओं में निष्णात करके आपके गुरु ने आपको गृहस्थाश्रम-सुख भोगने के लिए क्या प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा दे दी है ? ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन तीनों आश्रमों पर उपकार करने का सामर्थ्य एक गृहस्थाश्रम ही में है। आपकी उम्र अब उसमें प्रवेश करने के सर्वथा योग्य है।

'आप हमारे परम पूज्य हैं। अतएव सिर्फ आपके आगमन से ही मुझे विशेष आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता। यदि आप दया करके मुझसे कुछ सेवा भी लें तो अवश्य मुझे विशेष आनन्द हो सकता है। अतएव, आप मेरे लिए कुछ काम बतलायें, कुछ तो आज्ञा करें। हाँ, भला यह तो कहिये कि आपने जो मुझ पर यह कृपा की है, वह आपने अपने ही मन से की है या गुरु की आज्ञा से ? वन से इतनी दूर मेरे पास आने का क्या कारण है ?'

इस विस्तृत कुशल-प्रश्नावली के समाप्त होने पर कौत्स ने कहा—

'राजन् ! हमारे आश्रम में सब प्रकार कुशल है। हमारे तपश्चरण में कोई विघ्न नहीं, आश्रम-पादप खूब अच्छी दशा में हैं, जल की कमी नहीं, अन्न काफी है, पश्वादिकों का कोई उपद्रव नहीं। आपके राजा होते भला हम लोगों को कभी स्वप्न में भी कष्ट हो सकता है ? सूर्य के मध्य

आकाश में स्थित रहते मजाल है, जो रात्रिसम्भूत अन्धकार अपना मुँह दिखाने का हौसला करे । रहा मेरे आने का कारण, सो गुरु के लिए आपसे कुछ माँगने आया था । परन्तु मैं देर से आया । आपसे माँगने का समय जाता रहा । आपके ये मिट्टी के पात्र इसके प्रमाण हैं । आप प्रसन्न रहें । अब मैं आपसे इस विषय में कुछ नहीं कहना चाहता । मैं तो मनुष्य हूँ, गुरु की कृपा से चार अक्षर मैंने पढ़े भी हैं । अतएव ऐसे समय में याचना करना मुझे मुनासिब नहीं । सारे संसार को जल-वृष्टि से आप्लावित करके शरत्काल को प्राप्त होनेवाले रिक्त मेघों को पतंगयोनि में उत्पन्न चातक भी अपनी याचनाओं से तंग नहीं करते ।'

राजा ने उत्तर दिया—'अच्छा, बताइये तो कौन-सी चीज आप अपने गुरु को देना चाहते हैं और कितनी देना चाहते हैं ?'

इस पर कौत्स ने सब हाल कहा । सुनकर राजा बोले—'कुछ चिन्ता नहीं, आप दो-तीन दिन मेरी अग्निहोत्रशाला में ठहरिए । मैं आपकी अर्थसिद्धि के लिए चेष्टा करूँगा । मेरे पास से आपका विफल-मनोरथ जाना मेरे लिए बड़े ही कलङ्क की बात होगी । यह मैं नहीं चाहता—यह मुझे असह्य होगा ।'

रघु के खजाने में कौड़ी न थी । चौदह करोड़ द्रव्य कहाँ से आये ? राजा धर्म-संकट में पड़ा । अन्त में उसने कुबेर पर चढ़ाई करके उतना द्रव्य प्राप्त करने का निश्चय किया । उसने अपना शस्त्रास्त्रपूर्ण रथ सजाया । प्रातःकाल यात्रा करने के इरादे से रात को वह उसी रथ पर सोया । पर उसे प्रस्थान करने की जरूरत नहीं पड़ी । रात ही को उसका खजाना अशर्फियों से अकस्मात् भर गया । अतएव उसने वह सब धन कौत्स के सामने लाकर हाजिर कर दिया । वह चौदह करोड़ से कहीं अधिक था । सवाल था सिर्फ चौदह करोड़ के लिए, परन्तु उतना ही देना रघु के लिए कोई विशेष उदारता की बात न थी । इससे राजा वह सारा-का-सारा धन कौत्स को देने लगा । परन्तु वह मतलब से अधिक क्यों लेता ? उसने गिनकर चौदह करोड़ ले लिया । बाकी सब वहीं पड़ा रहा । अब बतलाइए उन दोनों में से किसे अधिक प्रशंसा का पात्र

समझना चाहिए—दाता रघु को या याचक कौत्स को ? रघु की राजधानी साकेत नगरी के निवासियों ने तो उन दोनों को बराबर एक ही-सा अभिनन्दनीय समझा।

बहुत प्राचीन भारत की यह एक धुँधली-सी झलक है। उस जमाने में विद्वत्ता की कितनी कदर थी, विद्वान् अपना जीवन किस प्रकार निर्वाह करते थे, वे कहाँ रहते थे, किस तरह रहते थे और क्या खाते थे, राजा कितने प्रजापालक थे, कितने दानी थे, कितने धर्मनिष्ठ थे, प्रजाजन कितने सत्यनिष्ठ और राजाज्ञा को कहाँ तक माननेवाले थे—इनका और इनके सिवा और भी ऐसी ही बातों का अनुमान कालिदास के पूर्वोक्त पद्यों से बहुत अच्छी तरह हो सकता है। हम लोग इस महाकवि के नितान्त कृतज्ञ हैं। उसीकी कृपा से हमें यह प्राचीन भारत की झलक देखने को मिली है।





३

भरत

[आश्रम का वातावरण। अग्नि में आहुति के समय स्वाहा की ध्वनि कई कण्ठों से निकल रही है। पहाड़ी झरने का स्वर गूँज रहा है। एक ओर दो स्त्रियाँ धीमे से बातें कर रही हैं। दो बालक किलकारी मारकर हँस पड़ते हैं।]

रोहिणी : शकुन्तला ! देखो तुम्हारा वह नटखट क्या कर रहा है ?

शकुन्तला : अरे भरत ! नहीं मानोगे ? बेचारे ब्राह्मण-बालक की क्या गति कर दी इसने। यहाँ चलो, चलो यहाँ।

भरत : ऊँ हूँ। [भरत अपने से बड़े ब्राह्मण-बालक को नीचे धरती पर दबाये हैं।]

शकुन्तला : क्या कहता है ? ऊँ हूँ....आऊँ तब ?

भरत : आओ। तुम पानी से डरोगी। मैं झरने में चला जाऊँगा।

शकुन्तला : सुन रही हो बहन !

रोहिणी : बड़े बाप का बेटा है; राजभवन में रहता। भाग्य के फेर से तपस्वियों के आश्रम में पड़ा है। नहीं तो वहाँ चारों ओर दास-दासी घेरे रहते।

शकुन्तला : लो, लगी तुम याद दिलाने। भाग्य से जो छूट गया, उसे भूल जाने दो। हम इस आश्रम में सुखी हैं।

रोहिणी : तुम सुखी रहो। पर तुम्हारा यह 'भरत' आश्रम के

लिए नहीं है। हमारे बालक इसके तेज से सहम जाते हैं। देखो, वह पद्मनाभ थककर धरती पर लोट गया है, इसके साथ दौड़ते-दौड़ते। और यह उसकी टाँग पकड़कर खींच रहा है।

शकुन्तला : पद्मनाभ ब्राह्मण है बेटा, उनके पैंर पड़ो।

भरत : पैर पड़ूँ इसके ? कह दो लड़कर मुझे पटक दे, दौड़कर मेरे आगे निकल जाय, तब मैं इसके पैर पड़ूँ, नहीं तो मेरे पैर यह पड़े।

पद्मनाभ : राजा के लड़के के पैर ब्राह्मण का लड़का पड़ता है ? किस धर्म में लिखा है यह ?

भरत : हा....हा....हा....इस रुई-सी नरम देह में कहाँ धर्म लिखा है, रहो, देखने दो....

पद्मनाभ : (हाथ-पैर पटककर) गुदगुदा रहा है....हा....हा....हा.... ऊँ....हूँ....हूँ....

शकुन्तला : (दौड़कर) छोड़ दो—अरे रे !....रुला देगा इसे ? (पकड़कर खींचती है।)

पद्मनाभ : हूँ, चलो तुम्हारे साथ नहीं खेलूँगा मैं....कभी नहीं....अब मत आना तुम मेरे पास खेलने को....

भरत : खेल में रोनेवाला मैं नहीं हूँ....लो मुझे गुदगुदा लो जितना चाहो....देखो, तुम्हारी तरह मैं पें-पें करता हूँ ? चलो, उसे उठा लायें। (दूर पर बाघ के बच्चे की ओर संकेत करता है।)

पद्मनाभ : हूँ, बाघिन वहाँ बैठी है, मारेगी एक पंजा, टाँय बोल जाओगे।

शकुन्तला : चलो तुम मेरे साथ। ना....ना....तुम्हें बाँधकर रखूँगी अब। बाघिन का बच्चा उठायेगा ?

भरत : कल मैं उसके साथ खेलता रहा, गिनकर बीस बार उलट दिया उसे। मुँह के बल, पीठ के बल, चारों पैर ऊपर, कान पकड़कर घसीटा, पूँछ पकड़कर....

शकुन्तला : बाप रे, बाघिन कहाँ थी ?

भरत : जहाँ आज बैठी है....बैठी-बैठी गुर्राती रही—घुरुर....घुरुर।

शकुन्तला : ऐं ! हिरण चले आ रहे हैं इधर ! कैसी घबराहट है यह ? चलो तुम अब, किसी का रथ आ रहा है। यहाँ नहीं रुकूँगी मैं; पता नहीं कौन है ? बाई आँख फड़क रही है। मेरे जीवन में भी भला कोई शुभ होगा ? (कण्ठ भर जाता है)

भरत : तुम जाओ, मेरे लिये न डरो।

शकुन्तला : बाघिन के बच्चे से लड़ने को छोड़ दूँ तुझे ? जैसा बाप वैसा बेटा निर्दयी। (उसकी देह हिलने लगती है)

भरत : बाप क्या होता है माँ ? बता दो, बाप क्या होता है ?

शकुन्तला : चुप रहो, मैं नहीं जानती। रथ निकट आ गया, चलो।

भरत : (भागकर) मैं नहीं जाऊँगा। मैं अभी झरने में पहरभर नहाऊँगा, तब....

शकुन्तला : बाघिन के बच्चे को नहीं छेड़ोगे ? (आँखों में आँसू भर आते हैं)

भरत : हा....हा....हा....मारे डर के रो रही हो ! इतने आँसू कहाँ से निकलते हैं माँ तुम्हारी आँखों से ? उनमें आँसू के घड़े हैं....जब उलट जाते हैं आँसू बहने लगते हैं। गोल-गोल मोती जैसे....(दोनों हाथों से गोल मोती का आकार बनाता है।)

शकुन्तला : हार रे भाग्य !....इसे वहाँ न जाने देना पद्मनाभ ! पता नहीं किसका रथ है, मैं जा रही हूँ।

(शकुन्तला का प्रस्थान)

भरत : पद्मनाभ ! चलो, बाघिन के बच्चे को उठा लायें।

पद्मनाभ : बुलाऊँ तुम्हारी माँ को ? बाघिन काट लेगी तब ?

भरत : बड़े होकर क्या करोगे, जब तुम डर से ऐसे काँपते हो ?

पद्मनाभ : देखो, वह रथ आ गया। सूर्य की तरह राजा का

मुकुट चमक रहा है। हाथ में धनुष है। सब ओर देख रहा है, जैसे उसकी कोई वस्तु खो गई हो।

भरत : (हँसकर) खोई वस्तु रथ पर चढ़कर नहीं खोजी जाती। वह देखो रोहिणी चाची और माँ रथ को देखकर उधर लताकुंज की आड़ में चली गईं।

पद्मनाभ : रथ रुक गया। चलो देखें कौन है ?

भरत : होगा कोई, राजा होगा अपने घर का—हमारा क्या ?

पद्मनाभ : मैं तो जाऊँगा।

भरत : जाओ, सोने का मुकुट देखना है तुम्हें। (व्यंग्य की हँसी)

दुष्यन्त : (रथ से उतरकर) कितनी शान्ति है तपस्वियों के इस आश्रम में। पशु, पक्षी, मृग सभी यहाँ संतुष्ट हैं। भय और दुःख की छाया यहाँ नहीं है। तुम्हारा नाम क्या है बालक ?

पद्मनाभ : पद्मनाभ। (उत्सुक होकर देखता रहता है।)

दुष्यन्त : ब्राह्मण-बालक हो ?

पद्मनाभ : हाँ तो....

दुष्यन्त : तुम्हें प्रणाम करता हूँ मैं देवता !

पद्मनाभ : स्वस्ति महाराज !

दुष्यन्त : कैसे जान गये कि मैं महाराज हूँ ?

पद्मनाभ : तरकस से, रथ की ध्वजा से !

(बाघिन का गुर्राना सुन पड़ता है।)

दुष्यन्त : बड़ा निडर है वह बालक। बाघिन के बच्चे को चित्त कर उसके दाँत गिन रहा है ! वह भी किसी तपस्वी का पुत्र है पद्मनाभ ?

पद्मनाभ : मैं नहीं जानता उसका पिता कौन है ! माता हैं यहाँ, उन्हें शकुन्तला देवी कहते हैं। सब देवियाँ उन्हें नित्य प्रातःकाल आशीर्वाद देती हैं कि उनके पति उन्हें फिर स्वीकार कर लें।

दुष्यन्त : उनके पति ने छोड़ दिया है उन्हें ? वह तेजस्वी बालक उन्हीं का है ? (जैसे कुछ स्मरण कर उद्वेग का स्वर)....

पद्मनाभ : कहते हैं लोग....भाग्य के फेर से वह इस आश्रम में है, नहीं तो राजभवन में उसे दास-दासी घेरे रहते ! उसके सिर पर भी सोने का मुकुट होता, उसके वस्त्र भी चमकते रहते, वह भी किसी महाराज का पुत्र है ।

दुष्यन्त : तभी तो इतना निर्भय है । मेरे सारथी के साथ जाकर तुम तपस्वी पुरुषों से कहो, महाराज दुष्यन्त आश्रम के बाहर खड़े हैं । तब तक मैं इस बालक को देखूँ ।

पद्मनाभ : अच्छा महाराज ।

(पद्मनाभ और सारथी का प्रस्थान)

दुष्यन्त : इस अपरिचित बालक की ओर मेरा हृदय क्यों खिंचा जा रहा है ! (निकट जाकर) कौन हो तुम बालक ? बाघ के बच्चे से खेलते डर नहीं लगता तुम्हें ? बाघिन पूँछ पटककर गुर्रा रही है ।

भरत : वह नित्य गुर्राती है और मैं नित्य उसके बच्चे को चित्त कर इसके दाँत गिनता हूँ ।

दुष्यन्त : तुम किसके पुत्र हो ? कौन है तुम्हारा पिता ? (प्रेम का स्वर)

भरत : मैं नहीं जानता पिता क्या होता है ।

दुष्यन्त : तुम्हारी माता कौन है ?

भरत : शकुन्तला देवी ।

दुष्यन्त : और पिता ?

भरत : कह दिया नहीं जानता पिता क्या होता है । मेरी माँ हैं यहाँ शकुन्तला देवी, पिता मेरा कोई नहीं है ।

दुष्यन्त : बिना पिता के बालक कहीं जन्म लेता है ?

भरत : मेरा कोई पिता नहीं है ।

दुष्यन्त : यहाँ तो आओ, तुम्हारी दाईं बाँह पर क्या बँधा है ? (ध्यान से उसकी बाँह पर बँधे रक्षाकवच को देखने लगता है)

भरत : कहाँ ? यह ? रक्षाकवच कहते हैं इसे....

दुष्यन्त : दिखाओ तो मुझे....

भरत : खोलूँगा नहीं....माँ खोलने को मना करती है। ऐसे ही देख लो बाँह में....(दुष्यन्त की ओर हाथ बढ़ाता है)

दुष्यन्त : यह मेरी मुद्रा का चिह्न है बालक ! तुम दुष्यन्त के पुत्र हो। (स्नेह से गद्गद् होकर भरे कण्ठ से)

भरत : कौन है वह....कहाँ रहता है ? (विस्मय से उसकी ओर देखता है)

दुष्यन्त : मैं ही वह पापी हूँ पुत्र ! आओ प्राण, तुम्हें हृदय से लगाकर इसे शीतल करूँ। (उसे पकड़कर छाती से लगाता है और उसका मुँह चूमने लगता है)

भरत : हाँ-हाँ, मेरा मुँह न चूमो....छोड़ दो मुझे....उतार दो मुझे धरती पर....(दोनों हाथों से रोकता है)

दुष्यन्त : अपनी माता के पास ले चलो बेटा—उसके पैर मैं आँसुओं से धोऊँगा !

भरत : उनकी आँख के आँसू कभी नहीं सूखते। आँसू भरे घड़े हैं उनकी आँखों में, जो बराबर उलटे रहते हैं और उनकी आँखों से बहते हैं। तुम भी रोते हो ? हाँ, तुम्हारे आँसू कपोल पर बह रहे हैं।

दुष्यन्त : (भरे कण्ठ से) किधर हैं तुम्हारी माँ ? चलो मुझे उधर....(धरती पर उतारकर आग्रह की दृष्टि से देखते हैं)।

भरत : मेरी माँ किसी बाहरी पुरुष के सामने नहीं आती। यहाँ तपस्वी लोगों से भी वह बहुत कम बोलती हैं। धरती से ऊपर उनकी आँखें कभी नहीं उठतीं।

दुष्यन्त : हाय ! तुम नहीं जानते बेटा, तुम्हारी माँ की कितना

दुःख दिया है मैंने। यह कवच उन्हें कण्व ऋषि के आश्रम में मैंने दिया था। (उनकी आँखों से आँसू निकल पड़ते हैं।)

भरत : ऐसा हो तो ले लो इसे और अपने रथ पर बैठकर चले जाओ। इसे ले लोगे तब तो नहीं रोओगे फिर....(रक्षाकवच खोलने लगता है)।

दुष्यन्त : तीनों लोक का धन मुझे आज मिल गया। मेरे जैसा भाग्यवान् आज संसार में कोई दूसरा नहीं है। ले चलो मुझे अपनी माँ के पास। उनके पुण्य से मेरा वंश डूबने से बच गया। स्वर्ग में पितर अब चिरकाल तक सुखी रहेंगे। (आँखों से आँसू निकल रहे हैं)

भरत : लो, खोल लो इस कवच को और तब रोना बन्द कर मुझे छोड़ दो और हँसते-हँसते अपने रथ पर चले जाओ।

दुष्यन्त : तुम्हें छोड़कर चला जाऊँ पुत्र ! सर्प—मणि छोड़कर नहीं जाता, अन्धा—लाठी छोड़कर एक डग भी नहीं चलता। (बैठकर भरत को दोनों हाथों में थाम लेते हैं)

भरत : जाने क्या कह रहे हो !....मैं कुछ नहीं जानता....छोड़ो मुझे.... छोड़ दो....माँ से कह आऊँ, तुम यह कवच माँग रहे हो।

(नेपथ्य में : महाराज दुष्यन्त की जय....जय....जय)

भरत : आश्रम की तपस्विनी देवियाँ और तपस्वी लोग आ रहे हैं। छोड़ दो मुझे अब। कहा था न....माँ किसी पुरुष के सामने नहीं आतीं। रोहिणी चाची वह आगे आ रही हैं, और देवियाँ भी हैं पर माँ नहीं हैं !

एक स्वर : पधारिये महाराज आश्रम में।

दूसरा स्वर : आज हमारे अहोभाग्य !

रोहिणी : महाराज दुष्यन्त कैसे राह भूल गये ? आ ही गये तो चलिये आतिथ्य लीजिये। हम तपस्वियों के पास कोई राजभोग तो है नहीं। झरने का पानी और कन्दमूल मिल जायगा। डरो मत भरत ! महाराज दयालु हैं, तपस्विनी के पुत्र को इतना स्नेह दे रहे हैं।

दुष्यन्त : भरत....भरत....मेरे भाग्य के इस साकार रूप का नाम भरत है देवी ।

रोहिणी : किस धोखे में पड़ गये हैं महाराज ! अभाग्य की मारी, जगत् में जिसका कहीं कोई सहारा नहीं है, मेरी तपस्विनी सखी है एक....उसी दुखिया का पुत्र है यह भरत । आपके भाग्य ने कहीं और रूप धारण किया होगा, खोज लें आप उसे ! (व्यंग्य और मुस्कान)

दुष्यन्त : शब्द के इन बाणों से मेरा यह पत्थर का हृदय फट नहीं जाता । रोहिणी देवी ! मुझ पापी को जितना दण्ड दें आप....सब, कम होगा । जिस देवी ने गर्भ में मेरा पुण्य और मेरे प्रतापी कुल का तेज धारण किया, उसे मैंने छोड़ दिया । जब उसकी अँगूठी मिली और मुझे उसका चेत आया, तब से नित्य उसी के चित्र बनाता और उसे आँसुओं से मिटाता रहा हूँ । एक क्षण का विलम्ब भी मेरे प्राण ले रहा है; कृपा कर मुझे अब प्रिय के मुख देखने का अवसर दें । (दोनों हाथ जोड़कर धरती पर सिर टेक देते हैं)

रोहिणी : कैसे कह रहे हैं—भरत आपका पुत्र है ? क्या प्रमाण है इसका ? (दृढ़ता के भाव में)

दुष्यन्त : यह देखिए....पुत्र की दाईं बाँह पर रक्षाकवच । यह मेरी मुद्रा से अंकित है । महर्षि कण्व के आश्रम में पुत्र के निमित्त अपनी बाँह का रक्षाकवच जो मैंने खोलकर देवी को दिया था, वही कवच है । यह मेरे मुख से भरत का मुख मिलाकर देखिये....आँख, कान, ललाट, होंठ—सब एक ही साँचे के हैं कि नहीं ? (स्नेह और विश्वास में भरत का मुख अपने मुख से लगाते हैं)

भरत : हूँ....हूँ ! रोहिणी चाची ! छुड़ा लो मुझे । देखो मेरा मुख यह अपने मुख से लगा रहे हैं ।

रोहिणी : नटखट बालक ! महाराज दुष्यन्त....चंद्रवंश के मुकुटमणि, जिसके प्रेम में आँसू बहा रहे हैं; चुपचाप, तात के कण्ठ से लगे रहो । चलिये महाराज ! पर सावधानी से बोलियेगा । शकुन्तला इस आनन्द में मर न जाय । दीजिये इसे मुझे ।

दुष्यन्त : नहीं देवी ! हम दो दुखियों के बीच का धागा है यह....जिससे दैव ने हम दोनों को जन्म-जन्म के लिए बाँध दिया है । इसी तरह कण्ठ से लगाये मैं इसे ले चलूँगा ।

भरत : हूँ....अब रोओगे....मेरे कपोल पर आँसू जो फिर पड़ेंगे तो मैं भी रोने लगूँगा ।

दुष्यन्त : (दुःख की हँसी) नहीं रोऊँगा बेटा ! दोनों हाथों से मेरा कण्ठ बाँध लो ।

भरत : इस तरह....। (दोनों हाथों से उनका कण्ठ घेरता है)

दुष्यन्त : हाँ, इसी तरह....धर्म का यह बन्धन है देवी ! देखिये इसकी आँखों में भी स्नेह के मोती झलक रहे हैं ।

रोहिणी : इधर से आइये महाराज....इधर से । पिता की आत्मा से पुत्र जन्म लेता है । भरत के इस बाल-शरीर में भी आप ही हैं । हाँ ! यही कुंज है । इसी में दुखिया शकुन्तला है । (और सब दूसरी ओर निकल जाते हैं)

दुष्यन्त : (कुंज में प्रवेश कर) क्षमा करो देवी मुझ पापी को । तुम्हारे चरण....

शकुन्तला : (सिसककर) हाय ! नरक में न ठेलो स्वामी मुझे । चरणों की छाया मुझे दो । हे भगवान् ! (भय का स्वर)

रोहिणी : (कुंज में प्रवेश कर) महाराज ! महाराज ! यह आपकी क्या दशा है ? आप ही धीरज छोड़ेंगे तो फिर पुत्र और पत्नी का क्या सहारा होगा ?

शकुन्तला : (रोकर) मेरा पाप यहाँ भी पिण्ड नहीं छोड़ता । आर्यपुत्र मेरी गोद में अचेत हो गये हैं । बहन, छींटे दो इनके मुख पर....।

भरत : (रोकर) मैं भी पानी डालूँ माँ ?

शकुन्तला : प्राणनाथ ! इतने दिनों में मिले भी तो यह गति....।

रोहिणी : रो मत अभागिनी ! पुत्र और पत्नी के अचानक इस

तरह मिल जाने का आनन्द महाराज नहीं सह सके। तुम्हारे प्रेम में, विरह की अग्नि में तपकर वह अब सोने की तरह शुद्ध हो गये हैं (जल के छींटों की ध्वनि) आँचल से हवा करो....।

भरत : आँखों पर गिराऊँ माँ जल....खुल रही है आँख....माँ देखो....तात की आँख खुल रही है।

दुष्यन्त : आँखों की ज्योति, मेरे रोग की औषधि, बैठ यहाँ मेरी गोद में! (भरत को गोद में बैठा लेते हैं)

रोहिणी : महाराज, आप थोड़ी देर चुप रहें, आपकी साँस अभी वेग से चल रही है।

शकुन्तला : हाँ प्रभु! यह क्या दशा हो गयी आपकी? कैसे वृद्ध-से....।

दुष्यन्त : तरुणाई तुम्हारे ही साथ चली आयी। अब फिर लौटेगी मेरी....।

रोहिणी : क्या लौटेगी अब....महाराज....(मुँह फेरकर हँसी)।

भरत : सब रो रहे हैं माँ! तात भी....तुम भी रो रही हो रोहिणी चाची।

रोहिणी : मैं नहीं रो रही हूँ बेटा!

दुष्यन्त : मैं भी नहीं रो रहा हूँ बेटा!

भरत : राजा लोग झूठ बोलते हैं।

शकुन्तला : अपने तात को ऐसा कह रहा है दुष्ट!

दुष्यन्त : यह उद्धत मुझे जितना दण्ड दे सके, सब मेरे भाग्य का कारण बनेगा।

शकुन्तला : तात को अपना हाथ दिखाओ, कोई अच्छे लक्षण हैं?

दुष्यन्त : बैठ जाइये, रोहिणी देवी आप यहाँ। दायाँ हाथ इधर करो बेटा।

भरत : हाँ, देखो!

दुष्यन्त : मन होता है देवी के चरणों पर सिर धर दूँ। चक्रवर्ती पुत्र की माता ग्रीष्म की गंगा-सी कृश हो गयी हैं। दोनों हाथों में चक्र, शंख और कमल के चिह्न हैं। तलवे देखें पुत्र! हाँ, दायें पैर में भी चक्र हैं। भरत समूची धरती का एकछत्र राजा होगा। बाघ के बच्चे से खेलते देखकर इसे....मेरा मन इसकी ओर खिंच गया, जैसे चन्द्रमा को देखकर समुद्र उमड़ता है।

भरत : अब तो यहाँ से नहीं जाओगे तात ?

दुष्यन्त : राजभवन सूना रहेगा बेटा !

भरत : तब माँ को फिर छोड़ जाओगे ?

दुष्यन्त : तुम्हारी माँ राजभवन में चन्द्रमा बनकर प्रकाश करेगी।

भरत : और मैं..........?

दुष्यन्त : तुम बाल सूर्य से मुझे नित्य बल और प्राण दोगे।

रोहिणी : तपस्वीजन उधर मण्डप में महाराज की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

दुष्यन्त : सचमुच मैं अपने सुख में भूल गया कि मुझे गुरुजनों से आशीर्वाद लेना है। चलो देवी तुम भी।

शकुन्तला : मुझे यहीं रहने दें।

रोहिणी : पति के साथ कैसी लज्जा....?

शकुन्तला : अपने भाग्य से मुझे भय लग रहा है बहन अब....।

भरत : चलो माँ ! चलो....हाँ....चलो....तात के साथ तुम भी चलोगी....मैं भी चलूँगा।

शकुन्तला : अब तक मेरे साथ रहा....अब....।

दुष्यन्त : (हँसकर) आओ बेटा ! अब मेरी बारी है।

भरत : मैं हाथ पकड़कर चलूँगा; गोदी में अब नहीं। (शकुन्तला और रोहिणी दोनों हँस पड़ती हैं।)

४

अभिमानी विन्ध्याचल

नारद ऋषि घूमते हुए उत्तर की ओर जा रहे थे। मार्ग में उन्होंने देखा कि विन्ध्याचल सिर ऊँचा किये खड़ा है। उसकी काली-काली चोटियाँ, हरी-हरी चोटियाँ, ऊँची-ऊँची चोटियाँ आकाश से बातें कर रही हैं। नारद ऋषि को देखते ही विन्ध्याचल ने दोनों हाथ जोड़ तथा सिर झुकाकर प्रणाम किया। नारद ऋषि ने उसे प्रेम से आशीर्वाद दिया और कहा—'विन्ध्याचल, तुम अच्छी तरह तो हो न ?'

विन्ध्याचल बोला : 'हाँ महाराज; आपके आशीर्वाद से अच्छी तरह हूँ। यदि मेरे योग्य कोई सेवा हो, तो आज्ञा कीजिये।'

नारद ऋषि ने कहा : 'नहीं विन्ध्याचल, अभी तो तुम्हारे योग्य कोई सेवा नहीं है। तुमसे मिलकर प्रसन्नता हुई। मैंने सुना था कि तुम बहुत अभिमानी हो गये हो। परन्तु वह बात गलत निकली। तुममें तो अभिमान नाम को भी मालूम नहीं होता।'

विन्ध्याचल बोला : 'मैं अभिमानी हो गया हूँ ! आपसे किसने कहा कि मैं अभिमानी हो गया हूँ ? आपको किसने बतलाया कि मैं अभिमान से रहने लगा हूँ ?'

नारदजी ने कहा : 'तुम सुमेरु पर्वत को जानते हो न ? वही कहा करता है कि विन्ध्याचल बड़ा अभिमानी हो गया है।'

विन्ध्याचल बोला : 'महाराज ! सुमेरु पर्वत जैसा अभिमानी है, वैसा ही वह दूसरों को समझता है। बात यह है कि सूर्य उसके चारों

ओर चक्कर लगाया करता है, इसलिए उसका अभिमान इतना बढ़ गया है। अब देखता हूँ मैं कि वह कितना अभिमानी है।'

नारदजी ने कहा : 'ऊँह....जाने भी दो विन्ध्याचल ! यदि तुम्हें अभिमान नहीं है तो सुमेरु पर्वत के कहने से क्या होता है।'

इसके पश्चात् नारदजी उसे आशीर्वाद देकर उत्तर की ओर चले गये। उनके चले जाने पर विन्ध्याचल सोचने लगा—'सुमेरु पर्वत मुझे अभिमानी बतलाता है। सूर्य उसके चारों ओर चक्कर लगाता है, इसलिए वह समझता है कि उसके समान और कोई है ही नहीं। यदि मैं चाहूँ, तो सूर्य को मेरे चारों ओर चक्कर लगाना पड़े। तब सुमेरु पर्वत को मालूम हो जाय कि उसके समान संसार में कोई और भी है। अच्छा देखता हूँ उसे।'

दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही विन्ध्याचल ने अपना शरीर बढ़ाना आरम्भ किया। धीरे-धीरे उसका शरीर इतना बढ़ गया कि वह आकाश को छूने लगा। उसने मन-ही-मन हँसकर कहा—'बस, अब ठीक है। मैंने सूर्य का मार्ग रोक लिया है। देखूँ, अब वह कैसे मेरे चारों ओर चक्कर नहीं लगाता ? सुमेरु पर्वत का अभिमान चूर-चूर हो गया।'

जब सूर्य सुमेरु पर्वत का चक्कर लगाता हुआ वहाँ आया तो देखता क्या है कि विन्ध्याचल मार्ग रोके खड़ा है। अब सूर्य क्या कर सकता था, न आगे बढ़ सकता था न पीछे हट सकता था। वह जहाँ-का-तहाँ रुककर रह गया।

सूर्य के रुक जाने से कहीं उजेले का नाम भी न रहा। तमाम संसार में अँधेरा छा गया। सभी प्राणी 'हाय-हाय' करने लगे। फिर तो सब देवता एकत्र हुए और दौड़े-दौड़े अपने राजा इन्द्र के पास पहुँचे और बोले—'महाराज ! संसार की भलाई के लिए कुछ उपाय कीजिये। विन्ध्याचल ने अपना शरीर बढ़ाकर सूर्य का मार्ग रोक लिया है। सारे जग में अँधेरा छाया हुआ है। कहीं उजेले का नाम भी नहीं है। सभी प्राणी हाय-हाय कर रहे हैं।'

इन्द्र ने देवताओं से कहा : 'आप ही बतलाइये; मैं क्या उपाय करूँ ? विन्ध्याचल को अभिमान हो गया है । वह क्रोध में है और सुमेरु को नीचा दिखाना चाहता है । इस समय वह किसी की न सुनेगा । हाँ, एक उपाय है । आप लोग अगस्त्य ऋषि के पास चलिये । वे शायद कोई उपाय निकाल सकें ।'

देवता बोले : 'तब अगस्त्य ऋषि के पास ही चलिये । किसी तरह संसार की भलाई तो हो ।'

इन्द्र सब देवताओं को लेकर अगस्त्य ऋषि के पास पहुँचे और उनको प्रणाम कर एक ओर खड़े हो गये । अगस्त्य ऋषि ने सब देवताओं को आशीर्वाद दिया । फिर कहा—'मेरे योग्य जो सेवा हो, बतलायें ।'

इन्द्र बोले : 'महाराज, विन्ध्याचल ने सूर्य का मार्ग रोक लिया है । वह सुमेरु पर्वत को नीचा दिखाना चाहता है । परन्तु तमाम संसार में अँधेरा छा गया है । कहीं उजेले का नाम नहीं है । सभी प्राणी हाय-हाय कर रहे हैं । कृपा कर संसार की भलाई के लिए कुछ उपाय कीजिए ।'

अगस्त्य ऋषि ने कहा : 'अच्छा, आप लोग जाइये । मैं विन्ध्याचल के पास जाता हूँ । देखूँ कुछ कर सकता हूँ या नहीं ।'

यह सुनते ही सब देवताओं ने अगस्त्य को प्रणाम किया । फिर वे इन्द्र के साथ, जहाँ से आये थे; वहाँ चले गये । इधर अगस्त्यजी विन्ध्याचल के पास पहुँचे ।

दयालु अगस्त्यजी को देखते ही विन्ध्याचल ने अपना शरीर छोटा कर लिया, फिर उसने उनके पैर पकड़कर उनको प्रणाम किया और कहा—'यदि मेरे योग्य कोई सेवा हो तो कृपा कर आज्ञा दीजिये ।'

अगस्त्यजी उसे आशीर्वाद देकर बोले—'मैं तुम्हें योग्य सेवा के लिए आज्ञा दूँ तो सही, परन्तु क्या जाने, तुम उसका पालन करोगे या नहीं ?'

विन्ध्याचल ने कहा : 'अच्छा, आप आज्ञा दीजिये । मैं अवश्य उसका पालन करूँगा ।'

दयालु अगस्त्यजी बोले : 'अच्छा, तो सुनो—मैं किसी काम से दक्षिण की ओर जा रहा हूँ । जब तक लौटकर न आऊँ, तब तक तुम इसी तरह पड़े रहना ।'

यह कहकर अगस्त्यजी ने उसे आशीर्वाद दिया । फिर वे दक्षिण की ओर चले गये और अभी तक नहीं लौटे । बेचारा विन्ध्याचल तभी से जमीन पर पड़ा हुआ है, और सोचता रहता है—अगस्त्यजी अब आते हैं । अब आते हैं ।

जानते हो यह विन्ध्याचल कौन है ? विन्ध्याचल हमारे देश भारतवर्ष का एक मुख्य पर्वत है और मध्यभारत, मध्यप्रदेश तथा बिहार में फैला हुआ है । इस पर्वत के कारण ही इन प्रान्तों में वर्षा होती है। अगर यह पर्वत न होता तो बरसाती हवायें सीधी निकल जातीं और यह प्रदेश सूखा रह जाता ।



५

गंगावतरण

सगर राजा के दो रानियाँ थीं, एक से असमंजस और दूसरी से साठ हजार पुत्र हुए।

असमंजस बचपन से ही उच्छृङ्खल और दुष्ट था। सारा नगर उसके नाम से चिल्लाता था। कोई घर ऐसा न था, जिसे उससे शिकायत न हो। राजकुमार असमंजस सारे नगर के लड़कों से लड़ता-झगड़ता, किसी को काटता, किसी को औंधे सिर लटकाता, किसी को गरदन पकड़कर घूँसे लगाता और कुछ को ठेट नदी तक घसीटकर ले जाता और पानी में डुबो देता। राजधानी में कोई दिन ऐसा न बीतता, जब लड़कों के खून न निकला हो, किसी की आँख में चोट लगती, किसी का सिर फूटता, बहुतेरों के बदन छिल जाते और किसी-किसी के घर तो रोना-पीटना मच जाता। लोग त्राहि-त्राहि पुकार उठे, किन्तु राजा का लड़का ठहरा, कहे कौन ?

कई दिनों तक यही सिलसिला चलता रहा। आखिर एक दिन लोग राजा के पास शिकायत लेकर पहुँचे—'महाराज ! आप चोरों और डाकुओं से हमारी रक्षा करते हैं, किन्तु अपने पुत्र से आप हमें नहीं बचाते। राजकुमार हमारे बाल-बच्चों को बहुत ही सताते हैं। यही नहीं, बल्कि उन्हें नदी में डाल देते हैं।'

लोगों के ये वचन सुनकर सगर राजा को बहुत दुःख हुआ और बड़े खिन्न व उदास भाव से उन्होंने कहा—'मेरा पुत्र ही मेरी प्रजा को

सताता रहता है ? मैं राजा हूँ, मैं तो प्रजा के जान-माल की रक्षा करनेवाला हूँ। यदि मेरी प्रजा को मेरी ओर से ही तकलीफ पहुँचती है, तो फिर मैं राजा कैसा ? मैं ही बड़े-से-बड़ा लुटेरा हूँ। आप जाइये, कुमार असमंजस को मैं इसी समय राज्य की सीमा के बाहर निकाले देता हूँ।'

असमंजस को देश-निकाला दिया गया।

एक बार सगर राजा ने अश्वमेध-यज्ञ आरम्भ किया। अश्वमेध-यज्ञ अर्थात् घोड़े को होमने का यज्ञ। इस यज्ञ में जिस घोड़े को होमा जाता है, वह अश्वशास्त्र की दृष्टि से किसी प्रकार के दोष या ऐबवाला न होना चाहिए, घोड़े की आँख में, उसकी पूँछ में, उसके मुँह में, उसकी चाल में और उसकी पीठ में किसी तरह का कोई दूषण नहीं होना चाहिए। यह घोड़ा पृथ्वी पर खुला छोड़ दिया जाता है और इसकी रक्षा के लिए एक हजार सैनिक बराबर इसके पीछे-पीछे घूमते रहते हैं। यह घोड़ा जिस राजा की हद में जाता है, वह इसे खुला घूमने दे, और बाँध न ले तो समझना चाहिए कि इस राजा ने यज्ञ करनेवाले राजा को बड़ा मान लिया है। लेकिन यदि कोई राजा इस तरह अपनी हद में आये हुए घोड़े को खुला न रहने दे, बल्कि बाँध ले, तो समझना चाहिए कि वह स्वयं यज्ञ करनेवाले राजा को अपने से बड़ा नहीं मानता। ऐसा होने पर घोड़े के साथ घूमनेवाले हजार सैनिक अपने घोड़े को छुड़ाने के लिए उस राजा से लड़ाई छेड़ते हैं। लड़ाई के बाद यदि घोड़ा खुल गया, यानी सैनिक उसे छुड़ा सके, तो वह फिर से आगे चलना शुरू कर देता है, नहीं तो बात वहीं अटक जाती है। इस तरह जब यज्ञ का घोड़ा सभी राजाओं के प्रदेश में स्वतन्त्र भाव से घूमता-फिरता वापस अपने राजा के पास आ जाता है, तभी यज्ञ शुरू होता है, अन्यथा नहीं। जो राजा ऐसे सौ अश्वमेध-यज्ञ करता, उसे इन्द्र का इन्द्रासन मिलता।

सगर राजा ने अश्वमेध का घोड़ा छोड़ा और उसकी रक्षा के लिए अपने साठ हजार पुत्रों को घोड़े के साथ भेजा। एक बार घोड़ा हरे-भरे खेतों में इधर उधर चर रहा था और सगर के पुत्र जहाँ-तहाँ भटक रहे

थे। इतने में घोड़ा एकाएक लुप्त हो गया। कुछ देर बाद राजकुमारों ने देखा तो घोड़ा गायब ! सब सोच में पड़ गये। इधर-उधर दौड़े। खोजा-ढूँढ़ा। मगर पता न लगा। आखिर सगर के पास जाकर बोले—'पिताजी ! कोई हमारे घोड़े को उड़ा ले गया है। कौन ले गया है, हम नहीं जानते। कहिये, अब क्या करें ?

सगर को क्रोध चढ़ा। बोले—'तुम क्षत्रिय-पुत्र हो। तुम्हें यह कहते शरम नहीं आती कि घोड़ा कौन ले गया, सो तुम नहीं जानते ? क्षत्रिय बच्चा तो आठों पहर जागता ही रहता है। कोई उसकी आँख में धूल झोंककर छोटी-सी सुई भी ले जाय, तो 'थुड़ी है उसकी जिन्दगी पर ! जाओ, घोड़े का पता लगाकर ही वापस आना।'

राजकुमार फिर चल पड़े। जहाँ घोड़ा चरने के लिए छोड़ा था, वहाँ पर देखा-भाला; लेकिन कोई पता नहीं चला। इसके बाद तो राजकुमारों ने बड़े-बड़े पहाड़ लाँघे, छोटी-मोटी नदियों और नालों को छान डाला, बड़े-बड़े जंगलों में भटके, सारी पृथ्वी की गुफाओं को देख डाला, राजा-महाराजाओं के महलों में जाकर देखा, लेकिन घोड़े का कहीं पता न चला। थके-माँदे वे सब फिर सगर के पास आये और बोले—'पिताजी ! हमने नदी, नाले, पहाड़, जंगल, गुफा सभी छान डाले, किन्तु घोड़ा कहीं न मिला। हमारी तो समझ में नहीं आता कि वह कहाँ चला गया।'

सगर की आँखों में खून उतर आया। वह बोले—'जाओ, तुम चले जाओ। जब तक घोड़े का पता न लगे, मुझे अपना मुँह न दिखाना।'

राजकुमार सब लौट पड़े। चलते-चलते एक राजकुमार के मन में अचानक यह विचार आया—'घोड़े को कोई पाताल में तो नहीं ले गया होगा ?' साठों हजार भाइयों ने इस विचार को पकड़ लिया और जिस स्थान में घोड़ा लुप्त हुआ था, वहीं खोदने लगे। सगर राजा के साठ हजार पुत्र, उनके भयंकर मुँह और उनकी वे क्रूर करतूतें ! जब वे खोदने लगे तो धरती डोल उठी, जंगल काँप उठे, नदी-नाले सूखने

लगे, पहाड़ डगमगाने लगे, इन्द्रासन भी क्षणभर के लिए डगमगा उठा। महान उल्कापात-सा मच गया।

खोदते-खोदते वे ठेट पाताल तक पहुँचे। वहाँ उन्हें एक मनोहर अरण्य मिला। अरण्य के एक बड़े वृक्ष से सगर का घोड़ा बँधा हुआ था और वहाँ से थोड़ी दूर एक रत्नशिला पर कपिल मुनि समाधि लगाये बैठे थे।

'अरे, यह रहा हमारा घोड़ा !'

'अरे हाँ, हमारा ही घोड़ा है; बिलकुल हमारा।'

'लेकिन इसे यहाँ बाँधा किसने ?'

'दीखता नहीं ? अन्धे हो ? वह चबूतरे पर बैठा है, उसीने।'

'अरे, यह तो कोई ऋषि हैं, ऋषि !'

'क्या कहने हैं, ऋषि के ! यों आँख मूँदकर और तनकर देखने से क्या कोई ऋषि बन जाता है ?'

इस तरह चर्चा चल रही थी कि इतने में सारा दल कपिल मुनि की रत्नशिला के पास जा पहुँचा।

'वाह रे मेरे ऋषि !' कहकर एक ने कपिल मुनि की दाढ़ी पकड़ी और हिलाई।

'अरे ! तुम्हारी आवाज से इनकी तपस्या में बाधा पहुँचेगी' कहकर दूसरे ने कपिल के कान में लकड़ी ठूँस दी।

'देख, इसे ठीक से प्राणायाम करना आता है या नहीं ?' तीसरे ने नथुनों में छोटी-छोटी रस्सियाँ घुसेड़ी।

'वाह रे तेरा आसन !' कहकर चौथा उनकी गोद में बैठ गया।

'भाइयों, चुप रहो, हल्ला मत करो। इनकी आत्मा ब्रह्मरन्ध्र में लीन हो गई है।' कहकर किसी ने सिर में 'टकोर' मारी।

इस बीच हल्ले-गुल्ले के कारण कपिल मुनि की समाधि टूट गई;

उनके चित्त का व्युत्थान हुआ और धीमे-धीमे आँख पर पड़ी हुई पलकें उघड़ने लगीं।

'वाह रें पट्ठे ! एक तो घोड़ा चुराकर लें आया और फिर ध्यान लगाकर बैठा !' किसी ने कहा।

दूसरे ने मुनि का माथा पकड़कर हिलाना शुरू किया और कहा—'नहीं-नहीं; बेचारे को मालूम तक नहीं। यह तो भोला-भाला ऋषि है। यह क्या जाने कि हमारा घोड़ा कौन-सा है ? इसके हाथ घोड़े को खींचकर ले आये होंगे, और हाथों ने ही उसे यहाँ लाकर बाँध दिया होगा। कसूर तो सब इसके हाथ का है, इसका नहीं। कहो मुनिराज, ठीक है न ?'

कपिल की पलकें उघड़ीं सो उघड़ीं। सगर के सभी पुत्र उनकी ओर देखने लगे। उनकी छेड़छाड़ और हँसी-मजाक तो चल ही रहा था। इतने में कपिल मुनि की आँखों से अग्नि प्रज्वलित हुई, और उसकी लपटों ने साठों हजार सगर-पुत्रों को घेर लिया। फिर तो पूछना क्या था ? एक क्षण पहले जहाँ मानवों के दल-के-दल खड़े थे, वहाँ राख की ढेरियाँ लग गई, और साठ हजार राख की ढेरियों से वह श्मशान भर गया। कपिल की पलकें फिर आँखों पर ढल पड़ीं, और अरण्य में पुनः शान्ति छा गई।

सगर राजा अपने पुत्रों की और घोड़े की राह देखते-देखते थक गये। कुछ दिन बाद सगर को मालूम हुआ कि पुत्र तो सब जलकर भस्म हो गये हैं।

'अब क्या किया जाय ? असमंजस को देश-निकाला दे रखा है, और साठ हजार पुत्रों की यह गति हो चुकी है। यह न होगा, तो संकल्प अधूरा रहेगा और मेरी अवगति होगी।'

असमंजस के अंशुमान नामक एक पुत्र था। सगर उसे अपने पास ही रखते थे। अंशुमान को अपने समीप बुलाकर सगर ने कहा—'बेटा ! तुम्हारे पिता को मैंने निर्वासित कर रखा है। और तुम्हारे साठ

हज़ार काका कपिल के क्रोध से जलकर राख हो चुके हैं। कपिल के पास यज्ञ का घोड़ा है। तुम उसे ले आओ; तो मेरा यज्ञ हो सके और अपना संकल्प पूरा करके मैं स्वर्ग की यात्रा कर सकूँ।'

'जैसी आपकी आज्ञा!' कहकर अंशुमान चल पड़ा और उसके काकाओं ने जो मार्ग खोद रखा था, उस मार्ग से वह कपिल मुनि के आश्रम में पहुँचा। राख की साठ हजार ढेरियों से घिरे हुए आश्रम में कपिल को तपस्या करते देख अंशुमान वहाँ पहुँचा और प्रणाम करके बैठ गया।

बड़ी देर के बाद कपिल ने पूछा—'बेटा! कैसे आना हुआ?'

'महाराज! एक प्रार्थना करने आया हूँ।'

'क्या प्रार्थना है?'

'इस पेड़ में यह घोड़ा बँधा है, सो कृपा कर मुझे दे दीजिये।'

'तुम इस घोड़े को सहर्ष ले जाओ। जानते हो; इसे यहाँ कौन बाँध गया था?'

'नहीं महाराज!'

'सुनो! तुम्हारे दादा ने निन्यानबे यज्ञ तो पूरे किये हैं, और यह उनका सौवाँ अश्वमेध है! यदि उनके सौ अश्वमेध पूरे हो जायें तो उन्हें इन्द्रासन मिले और इन्द्र को स्वयं हटना पड़े; इस डर से इन्द्र ने ही तुम्हारा यह घोड़ा चुराया है और इसे यहाँ इस आश्रम में बाँध दिया है।' कपिल ने कहा।

'स्वयं देवों में भी इतनी ईर्ष्या रहती है? यदि ऐसा है तो फिर इन्द्र बना ही क्यों जाय?' अंशुमान बोला।

'सच है। इसीलिए ऋषि स्वर्ग के लिए यत्न नहीं करते', कपिल ने कहा।

'महाराज! इन मेरे काकाओं को आपने जलाकर भस्म कर डाला है। क्या इनके उद्धार का कोई मार्ग नहीं?' अंशुमान ने हाथ जोड़कर पूछा।

'देखो, तुम्हारे ये काका अपने पाप से इस दशा को प्राप्त हुए हैं। इनके घोर कर्मों की बात तुमसे छिपी नहीं। तिस पर इन्होंने समाधि के समय मुझे सताया; इससे मैं अपने क्रोध पर काबू न रख सका।' कपिल ने कहा।

'वे थे तो इस दशा के योग्य। किन्तु आपके समान मुनि के दर्शन करके भी मुझे अपने काकाओं के उद्धार का मार्ग न मिले तो आपके दर्शन वृथा हों। अतएव कृपालु! इनके उद्धार का कोई मार्ग सुझाइये।' अंशुमान ने नम्रतापूर्वक कहा।

कपिल ने क्षणार्द्ध के लिए अपने नेत्र मूँद लिये और फिर अर्द्ध-निमीलित नेत्रों से बोले—'बेटा, इन काकाओं के उद्धार का एक ही मार्ग है। गंगाजी स्वर्ग से उतरकर अपने जल से इस राख को पवित्र करें, तो तेरे काकाओं का उद्धार हो। दूसरा कोई मार्ग नहीं।'

'कृपा हुई, महाराज!' अंशुमान ने उत्तर दिया। 'अब हमारा काम है कि हम गंगाजी को पृथ्वी पर लायें।'

'बेटा, इसे तुम कोई छोटा-मोटा काम न समझना। यह एक आदमी के जीवन का भी काम नहीं। इसके लिए तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रयत्न करना होगा।'

'महाराज! आप हमें यह आशीर्वाद दीजिए कि हम इस तरह का प्रयत्न कर सकें।' अंशुमान बोला और मुनि के आशीर्वाद सहित घोड़े को लेकर वापस सगर के पास आया।

इसके बाद अंशुमान ने गंगा को पृथ्वी पर लाने के लिए कठोर-से-कठोर तपश्चर्या शुरू की और तपस्या करते-करते ही उसका देहान्त हो गया। अंशुमान के बाद उसका पुत्र दिलीप गद्दी पर बैठा। किन्तु दिलीप की गद्दी भोग-विलास के लिए थोड़े ही थी? उस गद्दी पर बैठनेवालों को तो काकाओं के उद्धार के लिए तप का उत्तराधिकार मिला था, और दिलीप ने उसे अन्तःकरण-पूर्वक स्वीकार किया था। दिलीप ने

भी गंगाजी को लाने के लिए घोर तप किया; किन्तु तप का परिणाम निकलने से पहले वह चल बसा ।

दिलीप के अवसान के बाद गद्दी और तप का उत्तराधिकार उसके पुत्र भगीरथ को मिला । भगीरथ ने सगर के पराक्रमों की कथाएँ सुनी थीं; भगीरथ ने असमंजस की और साठ हजार काकाओं की दुर्दशा के हाल भी सुने थे; भगीरथ ने अपने कुल के कलंक की बात भी सुनी थी; अपने कुल के इस कलंक को धो डालने के लिए भगीरथ तैयार हो गया । भगीरथ ने उग्र तपश्चर्या आरम्भ की । गंगाजी उसकी तपस्या से प्रसन्न हुई और बोलीं— 'बेटा, मैं तेरी तपश्चर्या से प्रसन्न हुई हूँ । माँग, माँग, वर माँग !'

भगीरथ ने कहा : 'माता, पतित-पावनी गंगे ! मैं भली-भाँति जानता हूँ कि आप चाहें तो मुझे मोक्ष देने का सामर्थ्य रखती हैं । आपके समान देवता जब प्रसन्न होते हैं तो उससे मोक्ष छोड़कर संसार की और कोई वस्तु माँगना मूर्खता है । किन्तु हे माता ! आज मेरा मन मोक्ष नहीं चाहता । आज तो तेरे लिए मोक्ष से बढ़कर वस्तु मेरे इन काकाओं का उद्धार है । इसलिए हे देवि ! मैं एक ही वस्तु माँगता हूँ। जिस तरह आप स्वर्ग में बहती हैं उसी तरह पृथ्वी पर भी बहिये और अपने अमृत से हमारे मानव-कुल को कृतार्थ कीजिए ।'

गंगा बोली : 'बेटा भगीरथ ! तेरे दादा अंशुमान ने और तेरे पिता दिलीप ने इसी संकल्प के साथ अपनी देह छोड़ी है । तू भी इसी संकल्प के लिए अपनी काया को घुला रहा है ! किन्तु बेटा, तू नहीं जानता कि मेरे लिए भूलोक में आना कितना कठिन है ! मैं विष्णु भगवान् के अँगूठे में समाई रहती हूँ. । किन्तु वहाँ से निकलने पर मेरे स्रोत को कौन सहेगा ? यदि मैं सीधी पृथ्वी पर पड़ूँ तो पृथ्वी रसातल को चली जाय । मेरे अवतार का भार वहन करने के लिए किसी समर्थ आत्मा की आवश्यकता है ।'

भगीरथ क्षणभर निराश हुआ, बोला : 'देवी ! आपके गौरव को

मैं समझता हूँ । आप ही बताइये कि कौन आपका भार-वहन कर सकेंगे ।

मेरे जैसा पामर इसे कैसे जाने ? मैं तो एक ही बात जानता हूँ कि किसी भी तरह आपको पृथ्वी पर लाकर मुझे अपने काकाओं का उद्धार करना है ।'

'बेटा भगीरथ ! यदि कोई मेरे प्रवाह को झेलने में समर्थ है तो एक शंकर हैं । जब मैं भगवान् विष्णु के चरण का त्याग करके निकलूँगी तो शंकर को भी सोचना पड़ जायगा । लेकिन शंकर चाहें तो वे मुझे झेल सकते हैं । इसलिए तू शंकर के पास जा ।' गंगा ने कहा और वह अन्तर्द्धान हो गईं ।

भगीरथ शंकर के पास गया और तप करने लगा । शंकर ने प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा—'देवाधिदेव ! मेरे साठ हजार काका कपिल मुनि के क्रोध से जलकर भस्म हो गये हैं । उनके उद्धार के लिए हम आज तीन पीढ़ी से तप कर रहे हैं । अबकी गंगा देवी हम पर प्रसन्न हुई और अपने अमृत से मेरे काकाओं का उद्धार करने को तैयार हैं ।'

'तो फिर तुम क्या माँगना चाहते हो ?' भगवान् शंकर बोले ।

'प्रभो ! गंगाजी पृथ्वी पर आने के लिए तैयार हैं, किन्तु उनका भार वहन करने को कोई तैयार नहीं ।' भगीरथ ने कहा ।

'गंगाजी इतनी भारी हैं ?'

'माताजी तो कहती थीं कि यदि वे पृथ्वी पर पड़ें तो पृथ्वी रसातल को चली जाय ।'

'बात तो सच है; अकेली पृथ्वी में इतनी शक्ति नहीं ।'

'इसीलिए मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप गंगा मैया का भार वहन करना स्वीकार करें । तभी वह पतित-पावनी देवी पृथ्वी पर पधार सकेंगी और मेरे पुरखों का उद्धार हो सकेगा ।'

'बेटा भगीरथ ! तेरी तपश्चर्या को देखते हुए तो तू जो कहे मैं करने को तैयार हूँ; और गंगा को भी झेल लूँगा । किन्तु....' शंकर जरा रुके ।

भगीरथ कह उठा : 'सो तो माताजी भी कहती थीं कि शंकर को भी सोचना तो पड़ेगा ही ।'

'अच्छा ? मुझे, शंकर को भी, सोचना पड़ जायगा ?' शंकर ने कहा । मालूम होता है, गंगा मुझको भूल गई हैं । जा, अपनी गंगा से कहना, शंकर तैयार हैं, वह खुशी से उतरें । शंकर उसे अपनी जटा में झेल लेगा ।'

भगीरथ वापस गंगाजी के पास पहुँचा और उनसे कहा कि शंकर ने उनका भार झेलना स्वीकार किया है ।

और गंगा निकली । भगवान् विष्णु के दाहिने पैर के अँगूठे से निर्मल अमृत बहने लगा और श्वेत-स्रोत नाचता-कूदता, आकाश को चीरता, देवों को चकित करता, पवन से क्रीड़ा करता, उछलता नीचे को उतरने लगा ।

पृथ्वी पर भगवान् शंकर उसे झेलने को खड़े हैं । उनकी कमर में व्याघ्र-चर्म है, गले में मुण्डमाल है, दोनों हाथ कटि पर टिकाए हैं । आँखें ऊपर आकाश को ताक रही हैं । गंगाजी शंकर की जटा में समाईं, सो समाईं ! भगीरथ शंकर भगवान् के समीप प्रतीक्षा करता खड़ा है; किन्तु गंगा कहाँ ? वह जटा में से बाहर क्यों नहीं निकल रहीं ? घड़ी बीती, दो घड़ी बीती । भगीरथ तो घबराने लगा ।

'हे गंगा मैया ! बाहर पधारो । यह दीन सेवक आपकी बाट जोहता खड़ा है ।' भगीरथ ने आर्त्त स्वर से क़हा ।

किन्तु गंगा तो जटा में उलझ गई थीं । वे बाहर किस तरह निकलतीं ?- क्या शंकर की जटा में से निकलना सरल था ? गंगाजी जटा में खूब भटकने लगीं; पर कहीं मार्ग मिले तब न ? कैसे भी हों, आखिर हैं तो शंकर ही न ?

'मैंने शंकर का तिरस्कार किया था, कहीं उसी का तो यह परिणाम नहीं ?' गंगाजी थक गईं, उनकी खिसियाहट का पार न रहा । जब उन्हें

अपनी भूल मालूम हो गई, तब कहीं बड़ी मुश्किल से उन्हें रास्ता सूझा और वे बाहर निकलीं।

फिर तो आगे-आगे भगीरथ और पीछे गंगाजी। हरिद्वार के पास से होकर अटकती-भटकती गंगाजी की वह धारा कपिल के आश्रम के निकट पहुँची और भगीरथ के साठ हजार काकाओं की भस्म को भिगोकर पवित्र करती हुई आगे बढ़ गई; अन्त में समुद्र से जा मिलीं। इस प्रकार सगर के साठ हजार पुत्र स्वर्ग सिधारे।

भगीरथ की लाई हुई इन भागीरथी का जल आज भी उसी तरह प्रवाहित है और वैसा ही पतित-पावन है।



६

देवापि की देश-सेवा

पुराण-प्रसिद्ध पुरुवंश के प्रतापी भूपति महाराज प्रतीप के तीन पुत्र थे—देवापि, शन्तनु और वाह्लीक। इन्हीं महाराज प्रतीप के चौदहवें पूर्व-पुरुष महाराज कुरु थे, जिनके नाम पर पुरुवंश को कुरुवंश अथवा कौरव संज्ञा दी गई। महाराज कुरु से लेकर प्रतीप तक की बारह पीढ़ियों में ऐसा कोई भूपाल नहीं हुआ था जिसके सम्बन्ध में पुराणों में कोई विशेष चर्चा कहीं की गई हो। वंशावली के प्रसंग में इन सबका केवल नामोल्लेख ही मिलता है। महाराज प्रतीप भी कुछ इसी प्रकार के थे। ये शान्ति-प्रेमी तथा पितृपरम्परा द्वारा प्राप्त वैभव-ऐश्वर्य पर सन्तुष्ट रहनेवाले नरपति थे।

महाराज प्रतीप के ज्येष्ठ पुत्र देवापि बाल्यकाल से ही चर्म-रोगी थे। उनके सुन्दर, सुगठित शरीर पर और विशेषकर मुख और होठो पर श्वेत-कुष्ठ के दाग थे, किन्तु उनका स्वभाव इतना विनम्र, परोपकारी और दीनवत्सल था कि सारी प्रजा उन पर प्राण देती थी। दोनों छोटे भाई भी उन्हें पिता के समान ही आदर करते थे। जब तक महाराज प्रतीप जीवित रहे, तीनों भाई एक-दूसरे से अभिन्न की भाँति उनकी सेवा और शासन के कार्यों में हाथ बँटाते रहे। कभी किसी भी प्रसंग पर उनमें मतभेद नहीं हुआ। जिस बात को एक भाई कह देता था उसी का अनुमोदन और समर्थन दोनों भाई करते थे। उनमें परस्पर इतना प्रगाढ़ प्रेम था कि कौन बड़ा है, कौन छोटा है, इसका भेद ही नहीं रह

गया था । ज्येष्ठ भाई देवापि अपने छोटे भाइयों की प्रत्येक प्रसंग पर प्रतिष्ठा करते थे और उनकी सम्मति लिये बिना कोई काम नहीं करते थे ।

तीनों भाइयों के पावन प्रेम की यह शृंखला उत्तरोत्तर सघन होती गई । ज्यों-ज्यों वे किशोर से वयस्क होते गये, त्यों-त्यों उनके पवित्र स्नेह की कड़ी भी बलवान् होती गई । तीनों साथ ही रहते, साथ ही खाते-पीते, साथ ही अध्ययन करते, साथ ही महाराजा प्रतीप के सम्मुख जाते, राज-सभा में भाग लेते और शिकार खेलने जाते । महाराज प्रतीप अपने पुत्रों के पारस्परिक प्रेम को देखकर फूले न समाते, उन्हें इसका विश्वास हो गया था कि तीनों भाइयों का यह पावन-प्रेम निश्चय ही हमारे वंश एवं राज्य के शाश्वतिक-कल्याण का कारण होगा । वे अपने को परम भाग्यशाली अनुभव करते थे, क्योंकि प्रजा-वर्ग में उनके पुत्रों के सद्गुणों की चर्चा उन्हें प्रतिदिन सुनने को मिलती थी और बुद्धिमान् मन्त्रिवर्ग भी उनको इन तीनों भाइयों के सद्वृत्तों एवं सद्गुणों की प्रेरणादायक चर्चा से प्रतिदिन प्रसन्न किया करते थे ।

देवापि शरीर से सर्वाधिक बलवान् तथा सुन्दर थे, किन्तु श्वेत-कुष्ठ की कुव्याधि से वह मन-ही-मन बहुत चिन्तित रहा करते थे । महाराज प्रतीप को भी इसका बड़ा शोक था, किन्तु सैकड़ों औषधियों और उपचारों के बाद भी कोई सफलता नहीं मिल रही थी । मझले भाई शन्तनु का शरीर यद्यपि देवापि के समान बलवान् और परिश्रमी नहीं था, तथापि उनकी विलक्षण प्रतिभा और सूझ-बूझ का राजधानी में सर्वत्र आदर होता था । जटिल-से-जटिल विषयों में भी उनकी बुद्धि तत्क्षण प्रवेश कर जाती थी और गहन समस्याएँ भी उनके सम्मुख आकर तुरन्त ही सुलझ जाती थीं । साथ ही उनमें औषधि-विज्ञान के प्रति भी गहरी निष्ठा थी । पुराणों का कथन है कि जिसे वे छू देते थे, वह युवा हो जाता था । उनके शन्तनु नाम का कारण भी कुछ लोग यही बताते हैं । महाराज प्रतीप उनकी सम्मतियों को मूल्यवान् मानते थे और समय-समय पर मन्त्रिपरिषद् भी उनके परामर्शों से लाभ उठाती थी । छोटे भाई वाह्लीक की प्रकृति

कुछ सुकुमार, किन्तु उच्छृङ्खल थी। वे राजोचित वैभव और ऐश्वर्य के पुजारी, क्रोधी तथा आलसी स्वभाव के थे। विलास और विश्राम की उन्हें अधिक स्पृहा रहती थी। महाराज प्रतीप उनसे केवल इसलिए प्रसन्न रहते थे कि वे देवापि के कृपापात्र थे और शन्तनु भी उन पर प्रेम रखते थे।

तीनों भाइयों की इन तीन विभिन्न प्रवृत्तियों में समानता केवल इस बात की थी कि प्रजा पर इन तीनों का बड़ा स्नेह रहता था और राज्य की उन्नति और कल्याण की कामना इनके मन में सदा बसती थी।

महाराज प्रतीप के राज्यकाल में ही तीनों पुत्र वयस्क हुए और इनके विवाह के प्रसंग भी उपस्थित हुए। ज्येष्ठ होने के नाते देवापि के विवाह का अवसर बराबर आने लगा। यद्यपि वे शरीर से रुग्ण थे तथा कौरव-वंश के सुविस्तृत राज्य के उत्तराधिकारी होने के नाते ऐसे राजाओं की कमी नहीं थी जो उन्हें अपनी सर्वगुणयुक्त सुन्दरी कन्या को देकर अपने को सौभाग्यशाली न समझते। किन्तु बहुत-कुछ आग्रह-अनुरोध करने पर भी देवापि ने अपना विवाह नहीं किया और छोटे भाई शन्तनु के ही विवाह पर बल दिया। निरुपाय होकर महाराज प्रतीप ने शन्तनु और वाह्लीक का विवाह कर दिया और देवापि उनके जीवन-काल में ही निजी जीवन से विरक्त-से रहने लगे।

काल-धर्म से जब महाराज प्रतीप ने वानप्रस्थ ग्रहण किया तो देवापि के दुराग्रह और महाराज प्रतीप की आज्ञा से मन्त्रिपरिषद् ने शन्तनु को ही राज्याधिकारी घोषित करने का निश्चय किया। किन्तु शन्तनु इस कठोर कार्य के लिए सहसा तैयार नहीं हुए। उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता देवापि के चरणों में सिर नवाकर विनम्रतापूर्वक कहा—'पूज्य तात! आप कृपा कर राज्यसिंहासन पर समारूढ़ हों, मैं आपके आदेशों पर राज्य के संचालन की आजीवन प्रतिज्ञा लेता हूँ।'

किन्तु देवापि ने गद्‌गद वाणी में उत्तर दिया—'वत्स! तुम्हारे जैसे गुणवान् अनुज को पाकर मैं अपने को भाग्यशाली समझता हूँ। मेरी आज्ञा है कि तुम सिंहासन ग्रहण करो; क्योंकि धर्मशास्त्रों में कुछ

के रोगी को राजा बनाने की आज्ञा नहीं दी गयी है। मैं अपनी ओर से अपना यह पद तुम्हें समर्पित कर रहा हूँ। आज से तुम हम सबके राजा हो और हम तुम्हारे संकेतों पर चलनेवाले होंगे। मैं जब तक जीवित रहूँगा, तुम्हारे आदेशों के अनुसार, कुरुराज्य और उसकी जनता की भलाई करने की प्रतिज्ञा ग्रहण करता हूँ।'

निदान निरुपाय होकर शन्तनु को राज्यसिंहासन ग्रहण करने का अनचाहा निश्चय करना पड़ा और देवापि तथा वाह्लीक ने पूर्ववत् उनके परामर्शदाता बने रहने की प्रतिज्ञा ग्रहण की। किन्तु प्रजावर्ग में इस निश्चय से बड़ा असन्तोष पैदा हुआ। उनके प्रतिनिधियों ने मन्त्रिपरिषद् से इस प्रश्न पर पुनर्विचार का आग्रह किया, अतः निरुपाय होकर प्रधानामात्य ने देवापि से प्रजावर्ग का मन्तव्य प्रकट करते हुए, पुनः निवेदन किया—

'महाराज ! आप धर्म की सूक्ष्म मर्यादा के रक्षक हैं और महाराज प्रतीप के समय से ही समूचे राज्य की बागडोर सम्भालते आये हैं। प्रजा-वर्ग की हार्दिक इच्छा है कि आप ही राजसिंहासन पर विराजमान हों। धर्मशास्त्रों की व्यवस्था इस सम्बन्ध में दोनों तरह की मिलती हैं। बड़े भाई के रहते हुए छोटे भाई का राज्याभिषेक हो—इसकी तो शास्त्रों ने अत्यन्त निन्दा की है, जबकि रुग्ण राजा को राज्यसिंहासन ग्रहण करने की निन्दा कहीं नहीं है, निषेधमात्र ही मिलता है। आप यदि सिंहासन ग्रहण करेंगे तो प्रजा-वर्ग को अति सन्तोष और सुख मिलेगा तथा तीनों भाइयों के प्रेम-सम्बन्ध भी पूर्ववत् बने रहेंगे। कुमार शन्तनु का राज्याभिषेक होने से कुमार वाह्लीक को भी आपत्ति हो सकती है और प्रजा-वर्ग भी सन्तुष्ट नहीं होगा। ये दो कठिनाइयाँ उपस्थित हैं।'

देवापि ने विनयभरी वाणी में कहा—'अमात्यवर ! आपकी धर्मयुक्त व्यवस्था का मैं आदर करता हूँ किन्तु समूचे राज्य का और प्रजा-वर्ग का कल्याण इसी में है कि कुमार शन्तनु राज्यसिंहासन पर समारूढ़ हों। उनके समान प्रतिभाशाली, गुणवान्, बली, पराक्रमी तथा परोपकारी राजा मिलना कुरुराज्य के सौभाग्य की बात होगी। आपको इस बात का भी

विश्वास रखना चाहिए कि शन्तनु को सिंहासन दिया जाय—इस प्रसंग में वाह्लीक को कोई आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि मैं बाल्यकाल से ही उनके स्वभाव और भ्रातृ-प्रेम से परिचित हूँ। मैं अपनी ओर से भी आपको यह विश्वास दिला देना चाहता हूँ कि मैं स्वयं राज्य और प्रजा-वर्ग के कल्याण के प्रयत्नों में सदैव लगा रहूँगा। राजा होकर मैं जो कुछ कर सकता हूँ, वह सब मैं शन्तनु की देख-रेख में भी करता रहूँगा। सच तो यह है कि मुझमें और शन्तनु में कोई मतभेद कभी रहा ही नहीं और शायद भविष्य में भी ऐसा ही सुखमय जीवन बीत जायगा।'

देवापि की निश्छल और कल्याणकारी सम्मति ने प्रधानामात्य के भ्रम को दूर भगा दिया। उन्होंने भी सिर झुकाकर उनके प्रस्ताव का अनुमोदन किया, और प्रजा-वर्ग को समझा-बुझाकर शन्तनु के राज्याभिषेक के पक्ष में सहमत कर लिया।

राज-पद पर अभिषिक्त होने के अनन्तर शन्तनु का ऐश्वर्य और विक्रम चमक उठा। देवापि और वाह्लीक के परामर्श से उन्होंने शासन की सुदृढ़ व्यवस्था की। अनेक सीमावर्ती राज्यों को जीतकर अपने राज्य का विस्तार किया और प्रजा के हितकारी कार्यों के द्वारा थोड़े ही दिनों में सबका मन मोह लिया। प्रजा उन्हें परमात्मा का प्रतिनिधि समझकर अपना सर्वस्व समर्पण करने को तत्पर रहती थी और वह भी प्रजा की सेवा को अपना कर्त्तव्य समझकर सब प्रकार से उसके कल्याण एवं उन्नति के प्रयत्नों में दत्तचित्त रहते थे। बहुत वर्षों तक यही क्रम चलता रहा। समूचे कुरुराज में सुख, सन्तोष और शान्ति का सुखद साम्राज्य रहा।

किन्तु शनैः शनैः प्रभुत्व और ऐश्वर्य की मोहक मदिरा ने शन्तनु के मस्तिष्क को विकृत कर दिया। वह देवापि और वाह्लीक के भरोसे समूचे राज-प्रबन्ध को छोड़कर राजोचित भोग-विलास की ओर अधिक चित्त लगाने लगे। प्रजावर्ग की सेवा का भार दोनों भाइयों पर छोड़कर अपने लिए ऐहिक सुख-साधनों को एकत्र करने में लग गये, शासन-व्यवस्था की ओर से उदासीन होकर शृंगार एवं क्रीड़ा के प्रसाधनों की ओर उन्मुख हो गये। इसका परिणाम भी कुछ वैसा ही हुआ। बड़े भाई देवापि का

मन शन्तनु के प्रमाद के कारण राज्यव्यवस्था से ऊब गया। उन्होंने भी तपश्चर्या के लिए वन का मार्ग ग्रहण किया और छोटे भाई वाह्लीक भी कुरुराज के बाहर एक पृथक् राज्य स्थापित करने की इच्छा से अपने प्रियजनों के साथ राजधानी से बाहर चले गये। अकेले महाराज शन्तनु ही अब कुरुराज्य के सर्वाधिकारी थे किन्तु उनका कुछ भी समय शासन-प्रबन्ध के कार्यों में नहीं लगता था। रात-दिन अपने ही भोग-विलास के कार्यों में वे लगे रहते थे और राज्य का समूचा कार्य-भार मन्त्रिपरिषद के ऊपर था।

देवापि के चले जाने के अनन्तर कुरु-राज्य के प्रबन्ध में अनेक दूषण आ गये। शासन की शिथिलता के साथ ही राज्य-कर्मचारियों में स्वेच्छाचार की भावना बढ़ गयी और प्रजा के चरित्र का स्तर नीचे गिरने लगा। छल-छिद्र और ईर्ष्या-द्वेष के साथ संघर्ष और अशान्ति बढ़ने लगी। जन-मन से परोपकार और धार्मिकता नष्ट हो गई तथा स्वार्थ और पाप ने अड्डा जमा लिया। धीरे-धीरे प्राकृतिक उपद्रवों का भी आरम्भ होने लगा। यज्ञादि के पावन-प्रसंगों के बन्द हो जाने के कारण समूचे कुरु-राज्य में भीषण अवर्षण हुआ। देखते-देखते बारह वर्ष बीत गये किन्तु कृपण मेघों ने कुरु-देश की प्रदक्षिणा करने पर भी जल की एक बूँद नहीं बरसाई। देवापि के वनगमन् के साथ ही अनावृष्टि कुरु-राज्य पर आई थी, किन्तु शन्तनु को इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं थी। धीरे-धीरे समूचा राजकोष रिक्त हो गया, प्रजा-वर्ग में हाहाकार मच गया। लाखों लोग भूखों मरने की स्थिति में आ गये, किन्तु शन्तनु अविचलित थे। उन्हें अपने राग-रंग से फुरसत ही नहीं थी। मन्त्रिपरिषद् के सारे कौशल जब समाप्त हो गये, तब प्रधानामात्य ने महाराज शन्तनु का ध्यान इस कठिन समस्या की ओर आकर्षित किया।

× × ×

महाराज की सम्मति से प्रधानामात्य ने कुरुप्रदेश के अवर्षण को दूर करने के लिए एक बृहत् सभा बुलाई, जिसमें देश के प्रत्येक अंचल के प्रतिनिधिगण् और वेदवेत्ता विद्वान् बुलाये गये। सबके सम्मुख अनावृष्टि

की यह कठिन समस्या उपस्थित की गई। किसी ने यज्ञों और वैदिक क्रिया-कलापों के अभाव को इसका कारण बताया और कुछ विद्वानों ने राजकुमार देवापि के रहते हुए शन्तनु के राज्याधिकारी होने को ही इसका कारण बताया। अधिकांश ने इसी अन्याय की चर्चा की और महाराज शन्तनु से इसको दूर करने का अनुरोध किया।

मन्त्रिपरिषद् महाराज शन्तनु को ही राजा बनाये रखने के पक्ष में थी क्योंकि देवापि के साधु और उपकारी स्वभाव को वह व्यवस्थित शासन के अनुकूल नहीं समझती थी। निदान जब देश की बृहत सभा ने देवापि को पुनः सिंहासन पर अधिरूढ़ कराने का प्रस्ताव रखा तो मन्त्रियों ने इसका सकारण विरोध किया। प्रधानामात्य ने कहा— 'राजकुमार देवापि बहुत दिनों से शासन का भार छोड़ चुके हैं और वर्तमान महाराज उतने ही दिनों से इसका संचालन कर रहे हैं। अनुभव से देखा गया है कि राजकुमार देवापि का स्वभाव राजसिंहासन की अखण्ड मर्यादा को सुरक्षित और सम्मानित रखने के अनुरूप नहीं है। वे अत्यन्त दयालु होने के कारण अव्यावहारिक हो गये हैं। शासन की महत्ता को स्वीकार करना उनके लिए अति कठिन है जबकि वर्तमान महाराज के प्रभाव से कुरुप्रदेश की महिमा बहुत बढ़ गई है। शासन में कहीं भी शिथिलता नहीं है। हमें अवर्षण को दूर करने का कुछ दूसरा ही उपाय सोचना पड़ेगा।

किन्तु सभा ने एक मत से प्रधानामात्य के मत का खण्डन किया और निश्चय किया कि वन से राजकुमार देवापि को बुलाकर पुनः सिंहासनाधिरूढ़ कराने में ही कुरुदेश का कल्याण है। उन जैसे साधु एवं परोपकारी महापुरुष के अपमान से ही कुरु-राज्य की यह दुर्दशा हुई है।

मन्त्रिपरिषद् को सभा का यह निर्णय स्वीकार करके चुप रह जाना पड़ा और देवापि को शीघ्र ही वन से बुलाकर सिंहासन पर बैठाने की प्रतिज्ञा लेनी पड़ी। किन्तु सभा के विसर्जित हो जाने के अनन्तर मंत्रियों ने गुप्तमन्त्रणा की और यह निश्चय किया कि देवापि की बुद्धि को राज्य की ओर से विमुख कर देने में ही कुरुदेश का कल्याण है। फलतः

महाराज शन्तनु से छिपाकर मंत्रियों ने वन में तपस्यानिरत देवापि के समीप कुछ ऐसे ब्राह्मण भेजे जो कट्टर वैदिक-धर्म-विरोधी तथा धूर्त प्रकृति के थे। इन धूर्त ब्राह्मणों ने मन्त्रिपरिषद की प्रेरणा से देवापि की सरल निर्मल बुद्धि को धीरे-धीरे ग्रस लिया। तपस्वी वेषधारी इन धूर्तों ने शनैः शनैः देवापि को भी वेद-विरोधी बना डाला। जहाँ कुछ दिनों पूर्व वे यज्ञादि वैदिक प्रसंगों में अपना जीवन-यापन कर रहे थे वहीं वेदों और यज्ञों की निन्दा के साथ ब्राह्मणों के भी कठोर निन्दक बन गये। उनकी तपश्चर्या खंडित हो गई और दिन-रात व्यर्थ के वाग्जालों में उलझकर बीतने लगे।

इधर जब महाराज शन्तनु अपनी मन्त्रिपरिषद् के साथ देवापि को राजधानी वापस लें जाने के लिए वन में पहुँचे तो देवापि की विचित्र मनःस्थिति थी। जहाँ पहले वह अत्यन्त शान्त, संतुष्ट तथा गम्भीर मुद्रा में ईश्वरलीन रहते थे वहीं शन्तनु और मन्त्रिपरिषद् को देखते ही, वह उनसे शास्त्रार्थ करने में उलझ गये। ईश्वर, वेद, यज्ञ और ब्राहाणों की भरपूर निन्दा करने के साथ ही उन्होंने वेदों के अनुयायी शन्तनु और मन्त्रिपरिषद् को भी खूब खरी-खोटी सुनाई। देवापि के इस अप्रत्याशित स्वभाव-परिवर्तन को देखकर महाराज शन्तनु अत्यधिक चिन्तित हुए, किन्तु उनके मन्त्रियों को इससे विशेष सुख मिला क्योंकि उनकी योजना सफल हो चुकी थी।

महाराज शन्तनु ने देवापि को बहुत-कुछ समझाने-बुझाने की चेष्टा की, किन्तु आरम्भ में उनका एक भी प्रयत्न सफल नहीं हुआ। शन्तनु और मन्त्रियों की एक बात भी सुनना देवापि के लिए कठिन था। अन्ततः शन्तनु को देवापि की यह परिस्थिति समझने में देर नहीं लगी। उन्होंने सच्चे मन से देवापि के पूर्व संस्कारों को पुनः प्रबुद्ध करने का संकल्प किया और मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों के साथ उन धूर्त ब्राह्मणों को भी तपोवन से राजधानी वापस जाने का आदेश देकर स्वयं कुछ दिनों तक देवापि के संग रहने का निश्चय किया।

मन्त्रियों के साथ जब वे धूर्त ब्राह्मण भी तपोवन से राजधानी को

वापस चले गये तब देवापि कुछ प्रकृतिस्थ हुए । शन्तनु ने शनैः-शनैः देवापि के विकृत मस्तिष्क को पुनः शुद्ध करने का अथक प्रयत्न किया; किन्तु दीर्घ काल का संस्कार इतनी सरलता से छूटनेवाला नहीं था । महाराज शन्तनु को देवापि के साथ अनेक मास बिताने पड़े । शन्तनु की दिन-रात की सच्ची सेवा-शुश्रूषा तथा विनयशीलता ने देवापि के निर्मल हृदय को पुनः स्वच्छ कर दिया । उनकी दुर्भावनाएँ मिट गईं और पुनः देवापि की विचारधारा आस्तिकता तथा वेदनिष्ठा से पूर्ववत निर्मल हो गई ।

महाराज शन्तनु ने जब देखा कि देवापि का हृदय पूर्ववत शुद्ध हो चुका है और वे अब कुरुदेश के कल्याण तथा राज्य के सुख-दुःख की बातें पूछने लगे हैं तब एक दिन बड़े आग्रह से उन्हें राजधानी वापस ले चलने की बात कही । देवापि आरम्भ में तो सहमत नहीं हुए किन्तु जब उन्हें कुरुदेश पर बारह वर्ष से होनेवाले अवर्षणजन्य अकाल की सूचना मिली तो वे देश-सेवा और जनकल्याण की भावना से राजधानी वापस चलने के लिए राजी हो गये । किन्तु शन्तनु ने उनसे राजधानी में चलकर पुनः राज्य-पद स्वीकार करने का जब दुराग्रह किया, तब वे बोले—

'भाई ! मैंने राज-पद को अपनी ओर से ही तुम्हें सौंप रखा है। तुम मुझसे सभी बातों में योग्य हो । जब एक बार शासन का भार तुम्हारे योग्य हाथों में सौंपा जा चुका है तो उसको पुनः वापस लेने की क्या आवश्यकता है ? मैं अपने में और तुममें कोई अन्तर नहीं देखता। मैं राजधानी में रहकर भी तुम्हारे शासन के कार्यों में हाथ बँटाता रहूँगा। कुरुदेश की जनता तुम्हारे जैसे सर्वथा योग्य शासक को पाकर धन्य है। मैं राज्य की इस द्वादश वर्ष-व्यापिनी अनावृष्टि को दूर करने का अमोघ उपाय जानता हूँ । मैं वृष्टिकाम-यज्ञ का अनुष्ठान कर देवराज इन्द्र को सुप्रसन्न करने की विधि जानता हूँ और राजधानी वापस चलकर उसको सम्पन्न करूँगा ।'

इस प्रकार शन्तनु के साथ ज्येष्ठ राजकुमार देवापि जब

कुरु-राजधानी में वापस आ गये तो प्रजा-वर्ग को अति सन्तोष हुआ किन्तु मन्त्रिपरिषद् के लोग कुछ उन्मन हुए। उन्हें भय था कि देवापि यदि राज-पद को अंगीकार कर लेंगे तो मन्त्रिपरिषद् के अधिकार खण्डित हो जायेंगे। महाराज शन्तनु ने प्रधानामात्य को बुलाकर देवापि के निर्देशानुसार वृष्टिकाम-यज्ञ का अनुष्ठान सम्पन्न करने की आज्ञा दे दी और राज्य के महत्त्वपूर्ण कार्यों में देवापि के परामर्श के अनुसार चलने की प्रेरणा दी। मन्त्रियों की स्वेच्छाचारिता मन्थर हो गई और धीरे-धीरे वे स्वार्थ-त्याग के साथ ही राज्य के सर्वतोमुखी सुख-साधनों को एकत्रित करने में लग गये।

राजकुमार देवापि के आगमन के साथ ही कुरुराज्य की विपत्तियाँ घटने लगीं। वृष्टिकाम-यज्ञ का समारम्भ होते ही बादलों की मोहक घटायें घिर आतीं। जहाँ बारह वर्ष की निरन्तर अनावृष्टि से धरती जल रही थी, जल के अभाव में समुद्र-गामिनी नदियाँ भी सूख गई थीं, वनस्पति निष्पत्र होकर रुदन कर रही थी, पशु-पक्षी कठिनता से दिखाई पड़ते थे, चारों ओर हाहाकार मचा हुआ था, वहाँ मेघों की घड़घड़ाहट सुनकर समृद्धि और सुषमा का सागर लहराने लगा। वेद-निष्णात पुरोहितों और ऋत्विजों ने अगाध श्रद्धा और भक्ति से मन्त्रों का सविधि उच्चारण करते हुए प्रज्वलित अग्नि-कुण्डों में जब आहुतियाँ दीं तो उनकी धूम-रेखा से राजधानी का प्रत्येक अंचल ही नहीं, समस्त कुरुराज्य की सीमा आमोद-पूरित हो गई। धरती के इस परम सुख की सम्वर्द्धना गगनमण्डल तक फैल गई। आकाशचारी देवयानों की प्रसन्नता ने बादलों को बोझिल बना दिया। वृहस्पति-समवेत देवराज विहँस पड़े। आनन्दातिरेक से उन्हें कुरु-राज्य को पुनः पूर्ववत् सुखी, सम्पन्न और समृद्ध बनाने के लिए मेघों को आज्ञा देनी ही पड़ी। फिर तो वह सुखदायिनी वृष्टि हुई कि समूचा कुरुदेश प्रसन्नता से उमड़ पड़ा। नदी, सरोवर, वृक्ष, लताओं और खेतों में प्राण संचरित हो गये, पशु-पक्षियों के आश्रय-स्थल गुंजरित हो गये। प्रजा-वर्ग पूर्ववत् अपने जीवन के कार्यों में चित्त लगाकर शन्तनु और देवापि के गुणगान में निरत होने लगा।

महाराज शन्तनु ने प्रजा के कल्याणकारी राजकुमार देवापि का भिनन्दन किया और चारों ओर फैले हुए सुख के समुद्र की लहरों पर मते हुए उनसे निवेदन किया—'तात ! आपकी अनुपस्थिति ही कुरु-राज्य समस्त अभावों और दुःखों की जननी थी। आप स्वयं देखें कि समूचे रुराज्य में जहाँ कल तक यम का निवास था, दुःख और दारिद्र्य का वाग्नि जल रहा था, वहीं अब समृद्धि और सुख-शान्ति की लहरें दौड़ ही हैं। मेरा और समस्त प्रजा-वर्ग का आग्रह है कि आप राजधानी ो छोड़कर क्षणभर के लिए भी कहीं दूर न जायँ। हम आपके संकेतों र चलने के लिए सहर्ष तत्पर हैं, आपकी अखण्डित तपश्चर्या राजधानी व्यस्त जीवन से दूर किसी एकान्त में भी चल सकती है।'

देवापि ने मुस्कराते हुए कहा—'तात ! मैं आपके और आपकी जा के कल्याण के लिए सदैव सब कुछ करने को तैयार हूँ। आप नेश्चिन्त रहें।'

शन्तनु और देवापि की यह मंगल-वाणी समूची राजधानी में गूँज गई। प्रजा ने उत्सव मनाये और मन्त्रिपरिषद् ने भी देवापि के अमोघ प्रभाव को शिरसा स्वीकार कर सब प्रकार से प्रजा-हित के कार्यों की मानसिक-शपथ ग्रहण की। कुरुदेश के बीते दिन पुनः वापस लौट आये। अमंगलों की वेला बीत गई और चारों ओर स्वर्गीय सुखों की सघन छाया फैल गई। सब प्रकार की व्याधियाँ मिट गईं। निष्कपट भ्रातृ-स्नेह के इस पावन-प्रसंग ने देशभर की जनता के मन से स्वार्थों के संघर्ष एवं विकल्प मिटा दिये और छल-छिद्रादि तथा घृणित कलुषों के स्थान पर उनके हृदयों में प्रेम और सेवा की अमिट रेखाएँ अंकित कर दीं।



७

एकलव्य

पहला दृश्य

स्थान : भीलों के राजा हिरण्यधनु का झोंपड़ा ।

समय : प्रातःकाल ।

(हिरण्यधनु पत्थर की एक शिला पर चिन्तित बैठा है । एकल
सामने आकर प्रणाम करता है ।)

एकलव्य : पिताजी ! मैं कई दिनों से आपको किसी चिन्ता
डूबा हुआ देखता हूँ ।

हिरण्यधनु : (प्यार से पुत्र की ओर देखकर) हाँ बेटा ! मे
चिन्ता तुम्हारे लिए है !

एकलव्य : (आश्चर्य से) मेरे लिए ? मेरे लिए चिन्ता की क
बात है, पिताजी ? आज्ञा दीजिये, मैं वही करने को तैयार हूँ ।

हिरण्यधनु : मैं तुम्हारी शिक्षा के विषय में चिन्तित हूँ । तु
धनुर्विद्या अच्छी तरह सीख लेते तो भीलों के इस वन-राज्य को सँभा
सकते और अपने शत्रुओं को हराकर उनसे अपना छीना हुआ राज्य
वापस ले सकते । पर कोई अच्छा गुरु, जो तुम्हें धनुर्विद्या सिखा स
मुझे दिखाई नहीं पड़ता ।

एकलव्य : मैं आचार्य द्रोण के पास जाकर धनुर्विद्या सीखूँगा ।

हिरण्यधनु : पर आचार्य द्रोण तुमको धनुर्विद्या सिखायेंगे ? वे ह्मण, हम भील ! तुमको वे छुयेंगे भी ?

एकलव्य : क्यों नहीं ? वे बड़े विद्वान् हैं, समदर्शी हैं, वे मुझे राश न करेंगे । मैं अभी जाता हूँ ।

हिरण्यधनु : जाओ बेटा ! भगवान् तुम्हारा मनोरथ पूरा करें ! ल्दी लौटना ।

(एकलव्य धनुष और ओढ़ने का वस्त्र लेकर हिरण्यधनु के सामने ाता है, प्रणाम करता है, हिरण्यधनु उसके सिर पर हाथ रखता है, कलव्य जाता है ।)

●

दूसरा दृश्य

स्थान : हस्तिनापुर में नगर के बाहर एक आश्रम ।

समय : प्रातःकाल ।

(आचार्य द्रोण कौरव और पाण्डवों को धनुर्विद्या का अभ्यास करा हे हैं ।)

द्रोण : शिष्यों ! आज तुम्हारी परीक्षा लूँगा ।

एक राजकुमार : बहुत अच्छा, गुरुजी ! देखें आज कौन परीक्षा ठीक उतरता है ।

द्रोण : देखो, वृक्ष के ऊपर काठ की एक चिड़िया बैठा दी गई । देख रहे हो ?

कई राजकुमार : हाँ, हाँ, देख रहे हैं ।

द्रोण : उसकी एक आँख में चमकीला पत्थर जड़ा हुआ है ।

राजकुमार : (उत्सुकता से) हाँ, देख रहे हैं ।

द्रोण : उसकी आँख में तीर मारना है ।

दुर्योधन : (धनुष पर तीर तानकर खड़ा है ।)

द्रोण : क्या देख रहे हो ?

दुर्योधन : पेड़, डाली, चिड़िया सब कुछ देख रहा हूँ ।

द्रोण : (निराश होकर) अच्छा, बैठ जाओ । युधिष्ठिर, तुम चलो

(युधिष्ठिर धनुष पर तीर तानकर खड़ा होता है ।)

द्रोण : युधिष्ठिर, तुम क्या देख रहे हो ?

युधिष्ठिर : सब कुछ देख रहा हूँ, गुरुजी ! आपको देख रहा हूँ वृक्ष को देख रहा हूँ, चिड़िया को देख रहा हूँ ।

द्रोण : (खिन्न होकर) अच्छा, धनुष रख दो ।

(एक-एक करके और भी कई राजकुमार आते हैं और द्रोण सबसे वही प्रश्न करते हैं और उनसे वैसा ही उत्तर पाकर सबको बैठा देते हैं। अन्त में अर्जुन की बारी आती है ।)

द्रोण : (अर्जुन की ओर देखकर और अँगुली का इशारा करके) वत्स अर्जुन ! अब तुम्हारी पारी है ।

(अर्जुन गुरु को प्रणाम करके, धनुष पर तीर तानकर खड़ा होता है ।)

द्रोण : अर्जुन, क्या देखते हो ?

अर्जुन : केवल वृक्ष देखता हूँ, गुरुजी !

द्रोण : मुझे ?

अर्जुन : नहीं ।

द्रोण : अब क्या देखते हो ?

अर्जुन : अब केवल चिड़िया को देखता हूँ, गुरुजी !

द्रोण : अब ?

अर्जुन : अब केवल उसकी चमकती हुई आँख देख रहा हूँ ।

द्रोण : (हर्ष से) तीर छोड़ो ।

(अर्जुन का निशाना ठीक लगता है। पक्षी की आँख निकल पड़ती है। गुरु द्रोण गद्‌गद् होकर अर्जुन को छाती से लगा लेते हैं।)

द्रोण : वत्स ! मेरे शिष्यों में तुमसे श्रेष्ठ कोई न होगा।

(अर्जुन गुरु को प्रणाम करके नम्रता से सिर झुका एक ओर खड़ा हो जाता है।)

(एकलव्य का प्रवेश)

एकलव्य : (आचार्य को प्रणाम करता हुआ) मैं भीलराज हिरण्यधनु का पुत्र एकलव्य, आपको प्रणाम करता हूँ, गुरुदेव !

द्रोण : (आशीर्वाद देकर) वत्स ! सुखी रहो। तुम यहाँ किसलिए आये हो ?

एकलव्य : आपसे धनुर्विद्या सीखने के लिये गुरुदेव !

द्रोण : (सोचने लगते हैं) शूद्र का बालक राजपुत्रों के साथ होकर अस्त्र-शस्त्र नहीं सीख सकता।

एकलव्य : (आचार्य के मन का भाव समझकर) मैं सबसे अलग रहूँगा, गुरुदेव ! मुझे आप सिखाते समय तक ही अपने पास रहने दें।

द्रोण : (मन में) मैं केवल राजकुमारों के लिए ही नियुक्त हुआ हूँ। (प्रकट) नहीं, तुम यहाँ से चले जाओ।

एकलव्य : जो आज्ञा, गुरूदेव !

(प्रणाम करके उदास मन से जाता है।)

●

तीसरा दृश्य

स्थान : जंगल का रास्ता।

समय : दोपहर।

(एकलव्य चलते-चलते थककर राह के किनारे एक वृक्ष की छाया में बैठकर सुस्ता रहा है।)

एकलव्य : (आप-ही-आप) हे भगवान् ! तुमने मुझे शूद्र के घर क्यों पैदा किया ? मुझमें और उन राजपूतों के शरीर में क्या अन्तर है ? और फिर गुरु द्रोण ऐसे ज्ञानवान् भी भेदभाव रखें तो मेरे-जैसे की विद्या की प्यास किसके पास बुझेगी ? हाय ! अब क्या करूँ ? पिताजी को मैं बड़ा भरोसा देकर आया था । मेरा निष्फल लौटना सुनकर वे निराश होंगे ।

(एकाएक कहीं से वीणा की झंकार सुनकर वह चकित होकर एक ओर देखने लगता है । राग सुनाई पड़ता है ।)

जयगोविन्द सुदर्शनधारी,
जय-जय कृष्ण मुरारी ।

(नारद का प्रवेश)

(नारद मुनि हाथ में वीणा लिये ऊपर की कड़ी गाते हुए आते हैं । समीप आने पर एकलव्य उठकर खड़ा हो जाता है और नारद को प्रणाम करता है ।)

नारद : (आशीर्वाद देकर) तुम कौन हो और कहाँ जा रहे हो ?

एकलव्य : मैं भील राज हिरण्यधनु का पुत्र एकलव्य हूँ । गुरु द्रोण के पास धनुर्विद्या सीखने गया था । आचार्य ने मुझे शूद्र कहकर विद्या देने से इनकार कर दिया ।

नारद : (मन में) गुरु द्रोण इस समय धर्मसंकट में हैं, नहीं तो ऐसा ज्ञानी ब्राह्मण विद्या को जाति और वर्ण के घेरे में न रखता । (प्रकट) अब तुम क्या करोगे ?

एकलव्य : घर जा रहा हूँ आप ही कोई उपाय बताइये ।

नारद : वत्स, निराश होने की बात नहीं है । अभ्यास ही गुरु है । तुम गुरु द्रोण की मूर्ति बनाकर जंगल में रख लो और उसीके सामने रोज तीर चलाने का अभ्यास करो । सच्ची श्रद्धा और भक्ति से सीखोगे तो ईश्वर उसका परिणाम सदा तुम्हारी इच्छा के अनुकूल ही देंगे ।

एकलव्य : (मुँह पर प्रसन्नता छा जाती है। हृदय का उत्साह उसके चेहरे पर उमड़ आता है। हाथ जोड़कर वह देवर्षि नारद को प्रणाम करता है।) सन्त बाबा, मैं आपका बहुत कृतज्ञ हूँ। आपने मुझे बड़ा कल्याणकारी उपदेश दिया।

नारद : मनोरथ सफल हो। (गाते हुए जाते हैं)

जय गोविन्द सुदर्शनधारी,
जय-जय कृष्ण मुरारी।

●

चौथा दृश्य

स्थान : जंगल, मोटे वृक्ष की छाया।

समय : तीसरा पहर।

(घर न जाकर राह के एक जंगल में कुटी बनाकर उसके सामने द्रोणाचार्य की मूर्ति स्थापित करके, एकलव्य बड़ी श्रद्धा-भक्ति और तत्परता से तीर चलाने का अभ्यास कर रहा है।)

(एक कुत्ते का प्रवेश)

(कुत्ता एकलव्य का काला और भयानक शरीर देखकर भूँकने लगता है। एकलव्य उसके मुँह में सात बाण मारकर उसका भूँकना बन्द कर देता है। कुत्ता मुँह में बाणों को लिये भाग जाता है। एकलव्य फिर तीर चलाने लगता है।)

(पाण्डुपुत्रों का प्रवेश)

(कुत्ते को साथ लिये हुए पाण्डव तीर चलानेवाले को खोजते हुए उसी तरफ आ निकलते हैं।)

नकुल : (एकलव्य को देखकर, आश्चर्य से) यह देखो, कौन है? इसी ने कुत्ते के मुँह में तीर भरे होंगे।

सहदेव : उसका निशाना बड़ा अचूक है।

(सब एकलव्य के पास आते हैं ।)

युधिष्ठिर : तुम कौन हो ? यहाँ क्या कर रहे हो ?

एकलव्य : मैं भील राज हिरण्यधनु का पुत्र, एकलव्य हूँ । धनुर्विद्या सीख रहा हूँ । आप लोग कौन हैं और कहाँ से पधारे हैं ?

युधिष्ठिर : मैं पाण्डु राजा का पुत्र, युधिष्ठिर हूँ । हस्तिनापुर से आया हूँ । ये सब मेरे भाई हैं ।

एकलव्य : (प्रणाम करता है) अहोभाग्य, पधारिये । इस गरीब की झोंपड़ी को अपने चरणों की धूलि से पवित्र कीजिए ।

युधिष्ठिर : नहीं भाई, हम लोग शिकार खेलने के लिए वन में आये हैं । इस कुत्ते के मुँह में क्या तुम्हीं ने बाण भर दिये हैं ?

एकलव्य : हाँ, कुमार ! यह कुत्ता भूँक रहा था जिससे मेरे अभ्यास में विघ्न पड़ता था । क्या यह आपका कुत्ता है ? लीजिये, मैं अपने बाण निकाले लेता हूँ ।

(एकलव्य बाण निकाल लेता है । युधिष्ठिर और सब राजकुमार उसकी बाण-विद्या की निपुणता पर आश्चर्य करके एक-दूसरे की ओर देखने लगते हैं ।)

युधिष्ठिर : हाँ, हमने तो यह पूछा ही नहीं, तुम्हारा गुरु कौन है?

एकलव्य : (प्रसन्नता से) आचार्य द्रोण ।

युधिष्ठिर : (आश्चर्य से) आचार्य द्रोण ?

एकलव्य : हाँ, आचार्य द्रोण ।

(सब राजकुमार आश्चर्य प्रकट करते हैं और एक-दूसरे का मुँह देखते हैं । फिर सब वहाँ से जाना चाहते हैं ।)

एकलव्य : (सिर झुकाकर) एकलव्य सबको प्रणाम करता है ।

अर्जुन : (बिदा होते समय, मन में) गुरुदेव ने कहा था कि मेरा

कोई शिष्य धनुर्विद्या में तुम्हारे समान न होगा, पर गुरुदेव का यह शिष्य तो हम सबसे श्रेष्ठ है।

(सब जाते हैं)

पाँचवाँ दृश्य

स्थान : एकलव्य का झोंपड़ा।

समय : दिन का चौथा पहर।

(एकलव्य अपने गुरु की मूर्ति के सामने बैठकर कुछ गुनगुना रहा है और उस पर फूल चढ़ा रहा है।)

(राजकुमारों के साथ आचार्य द्रोण का सामने से प्रवेश)

एकलव्य : अहो ! गुरुदेव आ रहे हैं। मेरा अहोभाग्य है। (खड़ा होकर प्रणाम करता है) पधारो गुरुदेव, अपने चरणों की धूलि से इस दीन शिष्य के हृदय और झोंपड़े को पवित्र करो।

द्रोण : (हाथ उठाकर) वत्स ! तुम्हारा कल्याण हो।

एकलव्य : (आसन बिछाकर, हाथ जोड़कर और सामने खड़े होकर बड़ी नम्रता से) गुरुदेव ! आज आपने इस सेवक पर कैसे कृपा की ?

द्रोण : तुम्हें धनुर्विद्या किसने सिखाई ?

एकलव्य : आप ही ने गुरुदेव !

द्रोण : (आश्चर्य से) मैंने ?

एकलव्य : हाँ, गुरुदेव ! आप ही ने। मैं आपके चरणों की छाया में आश्रय पाने को गया था। आपने मुझे शूद्र समझकर विद्या देने से इनकार किया। मैं निराशा के समुद्र में डूबता-उतराता यहाँ बैठा था कि भगवान् की प्रेरणा से देवर्षि नारद पधारे। उन्होंने कहा—अभ्यास ही गुरु है। तब से मैं आपकी मूर्ति बनाकर उसी को गुरु मानकर उसके

सामने अभ्यास कर रहा हूँ। जो कुछ ज्ञान मिला है सब आप ही की कृपा का फल है, गुरुदेव !

द्रोण : तब तुम्हें गुरु-दक्षिणा भी देनी पड़ेगी।

एकलव्य : (श्रद्धापूर्ण दृष्टि से देखकर) गुरुदेव ! ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसे मैं गुरुदेव के चरणों में अर्पित नहीं कर सकता ? आज्ञा दीजिये, गुरुदेव ! यह शिष्य अपना सिर भी दे सकता है।

द्रोण : (मन में) धन्य है, सद्‌गुण किसी खास जाति या वंश की बपौती नहीं। शूद्र जाति का यह बालक भी वैसे ही सद्‌गुणों से पूर्ण है जैसे सद्‌गुण किसी उच्च कुल में पैदा होनेवाले बालक में होने चाहिये। (प्रकट) अच्छा, दाहिने हाथ का अँगूठा काटकर मुझे दे दो।

एकलव्य : (प्रसन्नता से) लीजिये।

(हँसते-हँसते अँगूठा काटकर दे देता है। अन्तरिक्ष में जय-जयकार होता है। गुरु द्रोण और सब राजकुमार चकित होते हैं।)

युधिष्ठिर : (मन में) सच्ची श्रद्धा इसे कहते हैं।

अर्जुन : (मन में) गुरुदेव का मुझ पर अपार प्रेम है। उसका यह साक्षात् प्रमाण है।

(अर्जुन की आँखें भर आती हैं। एकलव्य के अँगूठे से रक्त बहता है। वह आनन्द-मग्न होकर गुरुदेव के मुँह की ओर देखता है। गुरु गम्भीर मुँह किये हुए अपने शिष्यों के साथ प्रस्थान करते हैं।)

●

८

गणेश

सिद्धिदाता और विघ्नेश्वर होने के कारण गणेशजी का लोगों के जीवन से सम्बन्ध है। जिसको किसी बड़े विघ्न का सामना करना पड़ जाता है या किसी बड़ी सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है, वह स्मरण भर रखता है। इस प्रकार गणेशजी नित्य सहस्रों स्मरणीय काम किया करते हैं।

उनके कुछ काम ऐसे हैं जो लोक में प्रसिद्धि पा गये हैं। उनके सम्बन्ध में जो कहानियाँ प्रचलित हैं उनके पीछे कुछ जन-समुदाय की इच्छाओं और आशाओं की छाया है और कुछ मनुष्य की विनोदप्रिय कल्पना की उपज हैं। उत्तर भारत में गणेश चतुर्थी के सम्बन्ध में जो कहानी गाँवों में सुनी जाती है वह कुछ इस प्रकार है—

एक निर्धन स्त्री बड़ी श्रद्धा से गणेशजी का पूजन करती थी। चतुर्थी के दिन कहीं से माँग-जाँचकर थोड़े-से तिल ले आयी। उसका ही एक टूटा-फूटा-सा लड्डू बनाकर गणेशजी को चढ़ाया और यों ही निराहार लेटी रही। गणेशजी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसको दर्शन दिये और उस लड्डू से तृप्त हो गये। कुछ देर के बाद वह उससे बोले कि मैंने इतना खा लिया है कि पेट फटा जाता है, दीर्घशंका के लिए स्थान बतला। उसने कहा—महाराज, मेरे पास दूसरा स्थान कहाँ है, इसी स्थान को पवित्र कीजिए। सबेरे उठकर देखा गया तो उसकी झोपड़ी

सोने और मणि-माणिक से भर गयी थी। फिर उसे कभी धन-धान्य की कमी न हुई और मरने पर गणेशजी ने उसे मुक्ति दी।

गणेशजी के एक बहुत बड़े काम का विस्तृत वर्णन स्कन्दपुराण के काशीखण्ड में है। एक समय पृथ्वी पर वर्षा न होने के कारण घोर अकाल पड़ा। प्रजा व्याकुल हो उठी। तब ब्रह्माजी ने रिपुंजय नाम के क्षत्रिय कुमार से, जो वन में उग्र तप कर रहा था, पृथ्वी का राज्य-भार सँभालने को कहा। उन्होंने विश्वास दिलाया कि उसके राजा बनते ही वृष्टि होगी। उसने इस शर्त पर राज्य करना स्वीकार किया कि देवगण पृथ्वी छोड़कर अपने लोक चले जायँ। ब्रह्माजी ने यह बात मान ली। तब उसने राज्य-भार ग्रहण किया और उसका नाम दिवोदास पड़ा। उसने काशी को अपनी राजधानी बनायी। ऐसा सुन्दर शासन न कभी हुआ था, न होगा। देवगण तो चले गये थे, दिवोदास अपने तप के तेज से सबका काम करता था। प्रजा में न कोई रोगी था न दरिद्र, न किसी की अकाल मृत्यु होती थी। स्त्री-पुरुष सब धर्म के आचरण में निरन्तर लगे रहते थे। और सब देवों को तो कोई विशेष कष्ट नहीं हुआ परन्तु शंकर को काशी छूट जाने से अपार दुःख हुआ। उनके कैलाश इत्यादि अन्य कई धाम हैं, परन्तु काशी के बराबर कोई भी प्यारा नहीं है। काशी आने की कोई युक्ति बैठती न थी। जो कोई गुप्तचर भेजा जाता था उसको काशी इतनी भली लगती थी और दिवोदास के शासन में इतना सुख मिलता था कि वह वहीं रह जाता था।

तब गणेशजी ने इस बात का बीड़ा उठाया कि मैं शिव-पार्वती को काशी में प्रवेश कराऊँगा। वह ज्योतिषी का रूप धरकर आये, उनकी ख्याति राजा तक पहुँची। वह उनकी योग्यता पर मुग्ध हो गया। उन्होंने उसे बताया कि आज के अठारहवें दिन एक और ब्राह्मण तुमसे मिलेगा, वह जो कुछ कहे, करना। उससे तुम्हारा कल्याण होगा। अठारहवें दिन विष्णु ब्राह्मण का रूप धर राजा से मिले। उन्होंने उसकी बड़ी प्रशंसा की, पर साथ ही यह भी कहा कि तुमने शंकर को काशी से बाहर

रखकर भारी पाप किया है। इसका प्रायश्चित करो। दिवोदास ने ऐसा ही किया। एक दिन वह पूजा में लगा हुआ था कि आकाश से दिव्य विमान उतरा। उस पर शिव के पार्षद् बैठे हुए थे। उन्होंने राजा को विमान पर बैठा लिया और वह शिवलोक चला गया। उसके चले जाने पर शिव-पार्वती काशी आये। इस अवसर पर महादेव ने गणेशजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की, क्योंकि जो काम कोई नहीं कर सका था उसे उन्होने कर दिया।



६

हनुमान्

बरसात का मौसम आया । नदी-नाले, झील-तालाब पानी से भर गये । मैदानों में हरियाली लहराने लगी । पहाड़ियों पर मोरों ने शोर मचाना आरम्भ किया । आकाश पर काले-काले बादल मँडराने लगे । राम और लक्ष्मण ने सारी बरसात पहाड़ की गुफा में व्यतीत की । यहाँ तक कि बरसात गुजर गयी और जाड़ा आ गया । पहाड़ी नदियों की धारा धीमी पड़ गयी, काँस के पौधे सफेद फूलों से लद गये । आकाश स्वच्छ और नीला हो गया । चाँद का प्रकाश निखर गया । किन्तु सुग्रीव ने अब तक सीता के ढूँढ़ने का कोई प्रबन्ध न किया, न राम-लक्ष्मण की ही कुछ सुध ली । कुछ समय तक विपत्तियाँ झेलने के पश्चात् वह राज्य का सुख पाकर विलास में डूब गया । अपना वचन याद न रहा । अन्त में रामचन्द्रजी ने प्रतीक्षा से तंग आकर एक दिन लक्ष्मण से कहा—"देखते हो सुग्रीव की कृतघ्नता ! जब तक बालि नहीं मरा था तब तक तो रात-दिन खुशामद किया करता था और जब राज्य मिल गया और किसी शत्रु का भय न रहा तो हमारी ओर से बिलकुल निश्चिन्त हो गया । तुम तनिक जाकर उसे एक बार याद तो दिला दो । यदि मान जाय तो शुभ, अन्यथा जिस बाण से बालि को मारा उसी बाण से सुग्रीव का अन्त कर दूँ ।"

लक्ष्मण तुरन्त किष्किन्धा नगरी में प्रविष्ट हुए और सुग्रीव के पास जाकर कहा—"क्यों साहब ! सज्जनता और भलमनसी के यही अर्थ हैं कि जब तक अपना स्वार्थ था तब तक तो रात-दिन घेरे रहते थे और

जब राज्य मिल गया तो सारे वायदे भूल बैठे ? कुशल चाहते हो तो तुरन्त अपनी सेना को सीता की खोज में रवाना करो, अन्यथा फल अच्छा न होगा। जिन हाथों ने बालि का एक क्षण में अन्त कर दिया उन्हें तुमको मारने में क्या देर लगती है। रास्ता देखते-देखते हमारी आँखें थक गईं किन्तु तुम्हारी नींद न टूटी। तुम इतने शील-रहित और स्वार्थी हो। मैं तुम्हें एक मास का समय देता हूँ। यदि इस अवधि के अन्दर सीताजी का कुछ पता न चल सका तो तुम्हारी कुशल नहीं।"

सुग्रीव को मारे लज्जा के सिर उठाना कठिन हो गया। लक्ष्मण से अपनी भूलों की क्षमा माँगी और बोला—"वीर लक्ष्मण ! मैं अत्यन्त लज्जित हूँ कि अब तक अपना वचन पूरा न कर सका। श्री रामचन्द्रजी ने मुझ पर जो एहसान किया उसे मरते दम तक न भूलूँगा। अब तक मैं राज्य की परेशानियों में फँसा हुआ था। अब जी-जान से सीताजी की खोज करूँगा। मुझे विश्वास है कि एक महीने में मैं उनका पता लगा दूँगा।"

यह कहकर वह लक्ष्मण के साथ ऋष्यमूक पर्वत पर चला आया, जहाँ राम और लक्ष्मण रहते थे और यहाँ से सीताजी की तलाश करने का प्रबन्ध करने लगा। विश्वासी और परखे आदमियों को चुन-चुनकर देश के प्रत्येक हिस्से में भेजना शुरू किया। कोई पंजाब और कंधार की तरफ गया, कोई बंगाल की ओर, कोई हिमालय की ओर। हनुमान् उन आदमियों में सबसे वीर और अनुभवी थे। उन्हें उसने दक्षिण की ओर भेजा; क्योंकि अनुमान यह था कि रावण सीता को लेकर लंका की ओर गया होगा। हनुमान् की मदद के लिए अगंद, जामवन्त, नील-नल इत्यादि वीरों को भी तैनात किया। रामचन्द्र, हनुमान् से बोले—"मुझे आशा है कि सफलता का सेहरा तुम्हारे ही सिर रहेगा।"

हनुमान् ने कहा—"यदि आपका यह आशीर्वाद है, तो अवश्य सफल होऊँगा। आप मुझे कोई ऐसी निशानी दे दीजिए जिसे दिखाकर मैं सीताजी को विश्वास दिला सकूँ।"

रामचन्द्र ने अपनी अँगूठी निकालकर हनुमान् को दे दी, और

बोले—"यदि सीता से तुम्हारी मुलाकात हो तो उन्हें समझाकर कहना कि राम और लक्ष्मण तुम्हें बहुत शीघ्र छुड़ाने आयेंगे। जिस प्रकार इतने दिन काटे हैं उसी प्रकार थोड़े दिन और सब्र करें। उनको ढाढ़स देना कि शोक न करें। यह समय का उलट-फेर है। और न इस तरह रहा न रहेगा। यदि ये विपत्तियाँ न झेलनी होतीं, तो हमारा वनवास ही क्यों होता ? राज्य छोड़कर क्यों जंगलों में मारे-मारे फिरते ? हर हालत में ईश्वर पर भरोसा रखना चाहिए। हम सब उसी की इच्छा के पुतले हैं।"

हनुमान् अँगूठी लेकर अपने सहायकों के साथ चले। किन्तु कई दिनों के बाद जब लंका का कुछ ठीक पता न चला और रसद का सामान सब-का-सब खर्च हो गया तो अगंद और उनके साथी वापस चलने को तैयार हो गये। अगंद उनका नेता बन बैठा। यद्यपि वह सुग्रीव की आज्ञा का पालन कर रहा था पर अभी तक अपने पिता का शोक उसके दिल में ताजा था। एक दिन उसने कहा—"भाइयों, मैं तो अब आगे नहीं जा सकता; न हमारे पास रसद है, न यही खबर है कि अभी लंका कितनी दूर है। इस प्रकार घास-पात खाकर हम कितने दिन रहेंगे ? मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि चाचा सुग्रीव ने हमें इधर इसलिए भेजा है कि हम लोग भूख-प्यास से मर जाँय और उन्हें मेरी ओर से कोई खटका न रहे। इसके सिवा उनका और कोई अभिप्राय नहीं। आप तो वहाँ आनन्द से राज्य कर रहे हैं और हमें मरने के लिए इधर भेज दिया है। वही रामचन्द्र तो हैं जिन्होंने मेरे पिता को छल से मारा। मैं क्यों उनकी पत्नी की खोज में जान दूँ ? तो मैं अब किष्किन्धा नगर जाता हूँ और आप लोगों को भी यही सलाह देता हूँ।"

और लोग तो अगंद के साथ लौटने पर लगभग प्रस्तुत-से हो गये किन्तु हनुमान् ने कहा—"जिन लोगों को अपने वचन का ध्यान न हो वे तो लौट जाँय। मैंने तो प्रण कर लिया है कि सीताजी का पता लगाये बिना न लौटूँगा, चाहे इस कोशिश में जान ही क्यों न देनी पड़े। पुरुषों की बात प्राण के साथ है। वे जो वायदा करते हैं उससे कभी पीछे

नहीं हटते। हम रामचन्द्र के साथ अपने कर्त्तव्य का पालन न करके अपनी समस्त जाति को कलंकित नहीं कर सकते। आप लोगों को लक्ष्मण के क्रोध का पता नहीं, मैं उनका क्रोध देख चुका हूँ। यदि आप लोग अपना वायदा पूरा न कर सके तो समझ लीजिए किष्किन्धा का राज्य नष्ट हो जायगा।"

हनुमान् के समझाने का सबके ऊपर प्रभाव हुआ। अगंद ने देखा कि मैं अकेला ही रह जाता हूँ तो उसने भी विप्लव का विचार छोड़ दिया। एक बार फिर सबने कमर कसी और आगे बढ़े। बेचारे दिनभर इधर-उधर भटकते और रात को किसी गुफा में पड़े रहते थे। सीताजी का कुछ पता न चलता था। यहाँ तक कि भटकते हुए एक महीने के करीब गुजर गया। राजा सुग्रीव ने चलते समय कह दिया था कि यदि तुम लोग एक महीने के अन्दर सीताजी का पता लगाकर न लौटोगे तो मैं किसी को जीवित न छोड़ूँगा और यहाँ यह हाल था कि सीताजी की कुछ खबर ही नहीं। सब-के-सब जीवन से निराश हो गये, समझ गये कि इसी बहाने मरना था। इस तरह लौटकर मारे जाने से तो कहीं यह अच्छा है कि यहीं मरें।

एक दिन विपत्ति के मारे बैठे यह सोच रहे थे कि किधर जायें कि उन्हें एक बूढ़ा साधु आता हुआ दिखाई दिया। बहुत दिनों के बाद इन लोगों को आदमी की सूरत दिखाई दी। सबने दौड़कर उसे घेर लिया और पूछने लगे, "क्यों बाबा ! तुमने कहीं रानी सीता को देखा है; कुछ बतला सकते हो, वह कहाँ हैं ?"

इस साधु का नाम सम्पाति था। वह उस जटायु का भाई था जिसने सीताजी को रावण से छीन लेने की कोशिश में अपनी जान दे दी थी। दोनों भाई, बहुत दिनों से अलग-अलग रहते थे। बोला—"हाँ भाई, सीता को लंका का राजा रावण अपने रथ पर उठा ले गया है। कई सप्ताह हुए, मैंने सीताजी को रोते हुए रथ पर जाते देखा था। क्या करूँ, बुढ़ापे से लाचार हूँ, वरना रावण से अवश्य लड़ता। तब से

इसी फिक्र में घूम रहा हूँ कि कोई मिल जाये तो उससे यह समाचार

कह दूँ। कौन जाने कब मृत्यु आ जाये। तुम लोग खूब मिले। अब मैंने अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया।"

हनुमान् ने पूछा—"लंका किधर है और यहाँ से कितनी दूर है, बाबा ?"

सम्पाति बोला—"दक्षिण की ओर चले जाओ। वहाँ तुम्हें एक समुद्र मिलेगा। समुद्र के उस पार लंका है। यहाँ से कोई १०० कोस होगा।"

यह समाचार सुनकर उस दल के लोग बहुत प्रसन्न हुए। जीवन की कुछ आशा हुई। उसी समय चाल तेज कर दी और दो दिन में रात-दिन चलकर सौ कोस की मंजिल पूरी कर ली। अब समुद्र उनके सामने लहरें मार रहा था। चारों ओर पानी-ही-पानी। जहाँ तक निगाह जाती, पानी-ही-पानी नजर आता था। इन बेचारों ने इतना चौड़ा नद कहाँ देखा था। कई आदमी तो मारे भय के काँप उठे। न कोई नाव थी, न डोंगी, समुद्र में ज़ायें तो कैसे जायें ? किसी की हिम्मत न पड़ती थी। नल और नील अच्छे इंजीनियर थे। मगर समुद्र में तैरने योग्य नाव बनाने के लिए न कोई सामान था और न समय। इसके अलावा कोई युक्ति न थी कि उनमें से कोई समुद्र तैरकर लंका में जाये और सीताजी की खबर लाये। अन्त में बूढ़े जामवन्त ने कहा—"क्यों भाइयों ! कब तक इस तरह समुद्र को सहमी हुई आँखों से देखते रहोगे ? तुममें कोई इतनी हिम्मत नहीं रखता कि समुद्र में तैरकर लंका तक जाये ?"

अगंद ने कहा—"मैं तैरकर जा सकता हूँ, पर शायद लौटकर न आ सकूँ।"

नल ने कहा—"मैं तैरकर जा सकता हूँ, पर शायद लौटते वक्त आंधी दूर आते-आते बेदम हो जाऊँ।"

नील बोला—"जा तो मैं भी सकता हूँ और शायद यहाँ तक लौट भी आऊँ, मगर लंका में सीताजी का पता लगा सकूँ, इसका मुझे विश्वास नहीं।"

इस तरह सबों ने अपने-अपने बल और साहस का अनुमान लगाया । किन्तु हनुमान्‌जी अभी तक चुप बैठे थे । जामवन्त ने उनसे पूछा—"तुम क्यों चुप हो भगतजी ! बोलते क्यों नहीं ? कुछ तुमसे भी हो सकेगा ?"

हनुमान् ने कहा—"लंका तक तैरकर जा सकता हूँ ! तुम लोग यहीं बैठे हुए मेरी प्रतीक्षा करते रहना ।"

जामवन्त ने हँसकर कहा—"इतना साहस होने पर भी अब तक चुप क्यों बैठे थे ? "

हनुमान् ने उत्तर दिया—"केवल इसीलिए कि मैं औरों को अपना गौरव और यश बढ़ाने का मौका देना चाहता था । मैं बोल उठता तो शायद औरों को यह खेद होता कि हनुमान् न होते तो मैं इस काम को पूरा करके राजा सुग्रीव और रामचन्द्र दोनों का प्यारा बन जाता । जब कोई तैयार न हुआ तो विवश होकर मुझे इस काम का बीड़ा उठाना पड़ा । आप लोग निश्चिन्त हो जाँय । मुझे विश्वास है कि मैं बहुत शीघ्र सफल होकर वापस आऊँगा ।"

यह कहकर हनुमान्‌जी समुद्र की ओर पुरुषोचित दृढ़ पग उठाते हुए चल पड़े ।

१०

अशोक का अस्त्र-त्याग

[पहला दृश्य]

[एक मैदान में मगध-सैनिक के शिविर गड़े हैं। बीच में मगध की पताका फहरा रही है। पताका के पास ही महाराज अशोक का शिविर है। सन्ध्या बीत चुकी है। आकाश में तारे चमकने लगे हैं। शिविरों में दीपक जल गये हैं। अपने शिविर में अशोक टहल रहा है, उसके मुख पर चिन्ता की छाया है। वह कुछ सोचता हुआ आसन पर बैठ जाता है।]

अशोक : (स्वतः) आज चार साल से युद्ध हो रहा है। कलिंग आज भी जीता नहीं जा सका है। दोनों ओर के लाखों आदमी मर गये हैं, लाखों घायल हुए हैं। पर हम आज भी असफल हैं। क्या होगा इसका परिणाम ?

द्वारपाल : (सिर झुकाकर) राजन् ! संवाददाता आना चाहता है।

अशोक : आने दो।

संवाददाता : (प्रवेश कर) महाराज अशोक की जय हो ! शुभ संवाद है ! गुप्तचर समाचार लाया है कि कलिंग के महाराज लड़ाई में मारे गये हैं।

अशोक : (प्रसन्नतापूर्वक उठता हुआ) मारे गये हैं ! तो मगध की विजय हुई है। कलिंग जीत लिया गया है।

(संवाददाता चुप रहता है)

बोलते क्यों नहीं हो तुम ? चुप क्यों हो ?

संवाददाता : (धीरे से) बोलूँ क्या ? कलिंग-दुर्ग के फाटक आज भी बन्द हैं। फिर किस मुँह से कहूँ कि कलिंग जीत लिया गया ?

अशोक : (उत्तेजित होकर) कलिंग का फाटक आज भी बन्द है ?

संवाददाता : हाँ, महाराज ! कलिंग के फाटक आज भी बन्द हैं।

अशोक : (उत्तेजित होकर खड़ा होता हुआ) बन्द हैं तो खुल जायेंगे। जाओ, जाकर सेनापति से कह दो कि कल सेना का संचालन मैं स्वयं करूँगा। कल या तो कलिंग के फाटक खुल जायेंगे या मगध की सेना ही वापस चली जायगी। जाओ [हाथ से जाने का संकेत करता है।]

[दूसरा दृश्य]

[समय—दूसरे दिन प्रातःकाल शस्त्र-सुसज्जित अशोक घोड़े पर बैठा है। उसके पास उसका सेनापति है। सामने कलिंग का दुर्ग है, जिसके फाटक बन्द हैं।]

अशोक : मैरे सैनिकों ! आज चार साल से युद्ध हो रहा है, फिर भी हम इस कलिंग को जीत नहीं पाये हैं। उसके किसी दुर्ग पर मगध की पताका आज भी नहीं फहरा रही है। कलिंग के महाराज कल युद्ध में मारे गये हैं। उसके सेनापति पहले ही कैद हो चुके हैं। फिर भी कलिंग आत्म-समर्पण नहीं कर रहा है। आओ, आज हम अपनी मातृभूमि की शपथ खाकर प्रण करें कि या तो हम कलिंग दुर्ग पर अधिकार कर लेंगे या सदा के लिए मृत्यु की गोद में सो जायेंगे।

सब सैनिक : (तलवार खींचकर) मगध की जय ! महाराज अशोक की जय !

[सहसा कलिंग का फाटक खुल जाता है । सब आश्चर्य से उधर देखने लगते हैं । उनकी तलवार खिंची की खिंची रह जाती है । शस्त्र-सुसज्जित स्त्रियों की विशाल सेना फाटक से बाहर निकलने लगती है । सेना के आगे पुरुष-वेष में एक वीरांगना है, जो सैनिक के वेष में साक्षात् चण्डी-सी दिखाई देती है । यह कलिंग-महाराज की लड़की पद्मा है । स्त्रियों की सेना अशोक की सेना के सामने खड़ी हो जाती है । अशोक के सिपाही मन्त्र-मुग्ध से देखते रह जाते हैं । अशोक भी चकित हो जाता है ।]

पद्मा : (आगे बढ़कर अपनी सेना से) बहनो ! तुम वीर-कन्या, वीर-भगिनी और वीर-पत्नी हो । मुझे तुमसे कुछ नहीं कहना है । जिस सेना ने तुम्हारे पिता, भाई, पुत्र और पति की हत्या की है वह तुम्हारे सामने खड़ी है । आज उसीसे तुम्हें लोहा लेना है । तुम प्रण करो कि जननी जन्मभूमि को पराधीन होते देखने के पहले तुम सदा के लिए अपनी आँखें बन्द कर लोगी ।

स्त्रियाँ : (तलवार निकालकर) हम प्रण करती हैं कि जब तक हमारी धमनियों में रक्त की एक बूँद भी होगी, हम अपनी मातृ-भूमि का अपमान न होने देंगी ।

(सब सावधान होकर खड़ी हो जाती हैं)

अशोक : (स्वतः) यह कौन है ? यह साक्षात् दुर्गा कलिंग की रक्षा करने के लिए युद्धभूमि में आ गई हैं ! यह स्त्री है ! सभी स्त्रियाँ हैं ! क्या स्त्रियों से भी युद्ध करना होगा ! क्या अशोक को स्त्रियों का भी वध करना पड़ेगा ? ना ! ना ! मैं स्त्री-वध नहीं करूँगा । मुझे विजय नहीं चाहिए । मैं यह पाप नहीं करूँगा । मैं अस्त्र नहीं चलाऊँगा । (प्रकट) सैनिकों, स्त्रियों पर हाथ न उठाना । (आगे बढ़कर)—तुम कौन हो देवी ?

पद्मा : मैं कलिंग महाराज की कन्या हूँ, मैं हत्यारे अशोक की सेना से लड़ने आई हूँ । जब तक मैं हूँ, मेरी ये वीरांगनाएँ हैं, कलिंग

के भीतर कोई पैर नहीं रख सकता। कहाँ है अशोक ? कहाँ है मेरे पिता का हत्यारा ? मैं उससे द्वन्द्व-युद्ध करना चाहती हूँ।

अशोक : अशोक तो मैं ही हूँ राजकुमारी ! दोषी मैं ही हूँ। पर तुम स्त्री हो, तुम्हारी सखियाँ भी स्त्रियाँ हैं। मैं स्त्री पर शस्त्र नहीं चलाऊँगा।

पद्मा : क्यों महाराज ?

अशोक : शास्त्र की आज्ञा नहीं है राजकुमारी !

पद्मा : और शास्त्र की आज्ञा है कि तुम निरपराधियों की हत्या करो। शास्त्र की आज्ञा है कि तुम अपनी विजय-लालसा पूरी करने के लिए लाखों माताओं की गोद सूनी कर दो, लाखों स्त्रियों की माँग का सिन्दूर पोंछ दो। फूँक दो उस शास्त्र को जो तुम्हें यह सिखाता है। मैं तुमसे शास्त्र सीखने नहीं आई हूँ, युद्ध करने आई हूँ। तुम हत्यारे हो। मैं अपनी बलि चढ़ाकर तुम्हारे खून की प्यास बुझाने आई हूँ। अपने सिपाहियों से कहो, तलवार उठायें। कलिंग की स्त्रियाँ तुमसे कुछ नहीं चाहती, केवल युद्ध चाहती हैं।

(अशोक सिर झुका लेता है)

पद्मा : क्यों, सिर क्यों झुका लिया महाराज ! मैं युद्ध चाहती हूँ। केवल युद्ध ! आज आपके भीषण यज्ञ की पूर्णाहुति होगी।

अशोक : बहुत हो चुका राजकुमारी ! मैं अब युद्ध नहीं करूँगा। कभी युद्ध नहीं करूँगा (तलवार नीचे फेंक देता है)।

पद्मा : यह क्या महाराज !

अशोक : (अपने सैनिकों से) तुम भी अपनी तलवारें नीचे फेंक दो, आज से अशोक तुम्हें कभी किसी पर आक्रमण करने की आज्ञा नहीं देगा। फेंक दो अपनी तलवारें।

(सब सैनिक अपनी तलवारें फेंक देते हैं ।)

पद्मा : (आगे बढ़कर) मैं भुलावे में नहीं आ सकती ! मैं तुमसे युद्ध करूँगी ! मैं भूखी सिंहिनी हो रही हूँ ! मुझे अपने पिता का बदला लेना है ।

अशोक : (सिर उठाकर) तो लीजिये बदला राजकुमारी, मैं अपराधी हूँ । जिस अशोक ने लाखों का सिर काटा है और जिस अशोक का सिर आज तक किसी के आगे नहीं झुका वह आपके आगे नत है । काट लीजिए इस सिर को । मैं हथियार नहीं उठाऊँगा । मेरी प्रतिज्ञा अटल है ।

(अशोक सिर झुकाकर खड़ा हो जाता है)

पद्मा : तो जाइये महाराज, स्त्रियाँ निहत्थों पर वार नहीं करेंगी । आप अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए जीवित रहिये ।

(पद्मा अपनी स्त्रियों की सेना के साथ दुर्ग में चली जाती हैं ।)

[तीसरा दृश्य]

[अशोक और उसके सभी सरदार पीले वस्त्र धारण किये हुए हैं । उनके सामने एक बौद्ध बैठे हुए हैं ।]

बौद्ध भिक्षु : (अशोक से) कहो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि—

अशोक : मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि—

बौद्ध भिक्षु : जब तक मेरे शरीर में प्राण रहेगा.....

अशोक : जब तक मेरे शरीर में प्राण रहेगा.....

बौद्ध भिक्षु : अहिंसा ही मेरा धर्म होगा ।

अशोक : अहिंसा ही मेरा धर्म होगा ।

बौद्ध भिक्षु : मैं सबसे प्रेम करूँगा और मेरी करुणा का सदाव्रत सबको मिलेगा ।

अशोक : मैं सबसे प्रेम करूँगा और मेरी करुणा का सदाव्रत सबको मिलेगा।

बौद्ध भिक्षु : प्रतिज्ञा करो कि जब तक जीवित रहूँगा, अपनी प्रजा की भलाई करूँगा। सब प्राणियों को सुख और शान्ति पहुँचाने का प्रयत्न करूँगा; सब धर्मों को समान दृष्टि से देखूँगा।

अशोक : मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि शक्तिभर आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

बौद्ध भिक्षु : बोलो।

बुद्धं शरणं गच्छामि।
धम्मं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।

अशोक :
बुद्धं शरणं गच्छामि।
धम्मं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।



११

पौरुष और सिद्धि

(जातक-कथा)

एक बार वाराणसी के उच्च कुल का एक युवक, जो दुर्भाग्यवश निर्धन हो गया था, एक मार्ग से निकला। वहाँ अकस्मात् उसे एक मरा हुआ चूहा दिखाई पड़ा। निर्धनता और दरिद्रता से पीड़ित उस युवक ने सोचा—'यदि मुझ में वास्तविक पुरुषार्थ होगा तो मैं इस मरे चूहे से ही अपने भाग्य का निर्माण करूँगा।' इस निश्चय से वह चूहे को उठाकर चल पड़ा। पास ही उसे एक दूकानदार मिला जो अपनी पाली हुई बिल्ली को कुछ खिलाने की फिक्र में था। उसने उस युवक से एक पैसा देकर वह चूहा ले लिया। युवक ने उस एक पैसे का गुड़ खरीदा और एक घड़ा पानी लेकर रास्ते में बैठ गया। उस मार्ग से माली लोग वन-उपवन के फूल चुन-चुनकर लाया करते थे। वह युवक उन थके हुए मालियों को गुड़-पानी पिलाकर सन्तुष्ट करने लगा। माली लोग भी खुश होकर उसे थोड़ा-थोड़ा फूल देने लगे। दूसरे दिन भी युवक ने यह काम जारी रखा और माली फूल और फूलों से लदे पौधे दे देते। इन फूल और पौधों को बेचकर उस युवक ने चार दिनों में आठ पैसे एकत्रित कर लिये।

एक दिन हवा और आँधी के साथ खूब पानी बरसा, जिससे राजा के बाग में सूखी डालियाँ और सूखे पत्ते गिर-गिरकर इकट्ठे हो गये। माली उस कूड़ा-कर्कट को साफ करने की चिन्ता में था कि वह

उधर से निकला । उसने माली से कहा—यदि वह सूखी डालियाँ और पत्ते उसे दे दे तो वह क्षणभर में राजा के उपवन को कूड़ा-कर्कट से एकदम स्वच्छ और साफ कर देगा । माली की स्वीकृति पाने पर उस युवक ने एक मुहल्ले के छोटे-छोटे खेलते हुए लड़कों को गुड़ दिया और चतुराई से उनकी सहायता से बाग के सारे कूड़े-कर्कट को साफ कर दिया । माली भी प्रसन्न था कि बिना परिश्रम के बगीचे की सफाई हो गई और वह युवक भी, क्योंकि उसे मुफ्त में सूखी डालियाँ और पत्ते मिल गये । इसके बाद उस युवक ने इन डालियों और पत्तियों को सोलह पैसे और कुछ हण्डियों में राजा के कुम्हार के पास बेच दिया जो ईंधन की खोज में भटक रहा था ।

इस तरह उस युवक के पास चौबीस पैसे हो गये । अब अपनी योजना के अनुसार युवक एक ऐसी निश्चित जगह में बैठकर लोगों को पानी पिलाने लगा जहाँ से वाराणसी के समस्त पाँच सौ घसियारे जंगल में घास खोदने जाया करते थे । शीतल जल पीकर घसियारे उस युवक से प्रसन्न होकर जब कहते—"हम तुम्हारी क्या मदद करें ? कहो ।" तब वह युवक हँसकर कह देता—"समय आने पर कहूँगा ।"

इस बीच उस युवक की दो थल और जल-मार्ग से व्यापार करनेवाले व्यापारियों से मैत्री हो गयी । एक दिन थल-मार्ग के व्यापारी ने युवक को बतलाया कि दूसरे दिन पाँच सौ घोड़े लेकर एक व्यापारी वाराणसी आनेवाला है । तब युवक ने बिना अपनी अनुमति के घसियारों को उस दिन घास बेचने की मनाही कर दी । साथ ही प्रत्येक से एक-एक पूला घास ले लिया । सब घसियारे सहर्ष मान गये ।

दूसरे दिन घास के अभाव में उस जरूरतमन्द व्यापारी ने युवक से एक जार देकर सब घास ले ली ।

इसके कुछ दिनों के पश्चात् उस युवक को जल के व्यापारी मित्र से पता लगा कि बन्दरगाह में एक बड़ा जहाज खूब माल लेकर आया

है। वह युवक बहुत ठाट-बाट से बन्दरगाह गया और मोल-भाव करके सब माल को खरीद लिया। उस जहाज के माल को खरीद लेने के अग्रिम रूप में उसने अपने नाम की कीमती अँगूठी दे दी। यह अँगूठी बयाना के तौर पर थी। बाद में उसने पास में एक शानदार और भड़कीला तम्बू गड़वा दिया। भीतर वैभव और ठाट-बाट की रचना कर वह चुपचाप बैठ गया। सेवक के रूप में उसने कई अपने आदमियों को बाहर रख छोड़ा था और सबको आदेश दिया था कि जो कोई व्यापारी मुझसे मिलने आये तो उसे पहुँचाने के लिए तीन सेवक मेरे पास आयें। उधर वाराणसी में यह समाचार पहुँचा कि बन्दरगाह में एक बहुत बड़ा जहाज माल लेकर आया है, तब सौ प्रसिद्ध व्यापारी माल खरीदने बन्दरगाह पहुँचे। वहाँ उन्हें पता लगा कि जहाज का समस्त माल एक युवक व्यापारी ने खरीद लिया है, तब वे उसकी खोज करने लगे। किसी तरह तम्बू में वे पहुँचे और उस युवक के असाधारण ठाट-बाट और वैभवशाली कारोबार को देखकर वे उसे अत्यधिक धनी और सम्पन्न व्यापारी मानने लगे।

एक-एक करके सब व्यापारी उस युवक से मिले और उन सबने जहाज की चीजों में से एक-एक खरीदने की प्रार्थना की और अपने-अपने लाभ में से उस युवकको एक-एक हजार रुपये देना स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त उस युवक का जो हिस्सा था, वह भी उन सब व्यापारियों ने लाभ के एक-एक हजार रुपये देकर ले लिया। इस प्रकार युवक को दो लाख रुपयों का लाभ हुआ।

दो लाख रुपये पा लेने के बाद उस युवक ने स्मरण किया कि बोधिसत्व जब राजा की सेवा में जा रहा था, तब उन्हें मरा हुआ चूहा मिला। शुभाशुभ के विचारक बोधिसत्व ने नक्षत्रों और ग्रहों की गणना करके यह निष्कर्ष निकाला था कि जो भी कुलीनवंशीय व्यक्ति इस मरे हुए चूहे को उठाकर रोजगार या व्यवसाय करेगा, वह यथेष्ठ धन अर्जित करेगा। बोधिसत्व की इस बात को सुनकर युवक ने उस मरे चूहे के

बल पर अपना भाग्य आजमाने की कोशिश की और फलस्वरूप दो लाख रुपयों का अधिकारी हुआ। अब वह युवक महान् बोधिसत्व के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करने हेतु एक लाख भेंट देने के लिए उनके पास पहुँचा। बोधिसत्व के पूछने पर युवक ने धन-प्राप्ति की सच्ची कथा सुनाई। युवक की विलक्षण बुद्धि, असाधारण पुरुषार्थ और लक्ष्य के प्रति सच्ची लगन देखकर बोधिसत्व ने उसके साथ अपनी कन्या को ब्याह दिया। बोधिसत्व के निस्सन्तान होने के कारण वह उसकी समस्त सम्पत्ति का अधिकारी हुआ। बोधिसत्व की मृत्यु के पश्चात् वह युवक महाश्रेष्ठी कहलाने लगा।



१२

महिम्नस्तोत्र के कवि पुष्पदन्ताचार्य की कथा

(कथा-सरित्सागर के आधार पर)

यह स्तोत्र अब ऐसा प्रसिद्ध है कि आर्ष की भाँति माना जाता है, वरंच पुराणों में भी कहीं-कहीं इसका माहात्म्य मिलता है। एक प्रसंग है कि जब पुष्पदंत ने महिम्न बनाकर शिवजी को सुनाया तो शिवजी बड़े प्रसन्न हुए। इससे पुष्पदंत को गर्व हुआ कि मैंने ऐसी अच्छी कविता की कि शिवजी प्रसन्न-प्रसन्न हो गये। यह बात शिवजी ने जानी और अपने भृङ्गी-गण से कहा कि मुँह तो खोलो। जब भृङ्गी ने मुँह खोला तो पुष्पदंत ने देखा कि महिम्न के श्लोक बत्तीसों दाँत में लिखे हैं। इससे यह बात शिवजी ने प्रकट की कि ये श्लोक तुमने नहीं बनाये हैं। वरंच यह तो हमारा अनादि स्तुतिश्लोक है। यह बात प्रसिद्ध है कि पुष्पदंत जब शाप से ब्राह्मण हुआ था तब यह स्तोत्र बनाया और ऐसी ही अनेक आख्यायिकायें हैं। अब वह पुष्पदंत कौन है और कब वह ब्राह्मण हुआ ? इसका विचार करते हैं। 'कथासरित्सागर' में एक पहला ही प्रसंग है जिससे यह प्रसंग बहुत स्पष्ट होता है। उसमें लिखते हैं कि पार्वती का मान छुड़ाने को शिवजी ने अनेक विचित्र इतिहास कहे और उस समय नन्दी को आज्ञा दी थी कि कोई भीतर न आये, परन्तु पुष्पदंत गण ने योग-बल से नन्दी से छिपकर भीतर जाकर वह सब कथा सुनी और अपनी स्त्री जया से कही तथा जया ने फिर पार्वती से कही। यह सुनकर पार्वती ने बड़ा क्रोध किया और पुष्पदंत तथा उसके मित्र माल्यवान् को शाप दिया कि दोनों मृत्युलोक में जन्म लो। फिर जब उन गणों

ने पार्वती को बहुत मनाया तब पार्वती ने कहा कि अच्छा, विन्ध्याचल में सुप्रतीक नामक यक्ष कालभूति पिशाच हुआ है। उसको देखकर पुष्पदंत जब यह सब कथा कहेगा तब दोष दूर होगा और कालभूति से जब माल्यवान् सुनेगा तब वह शाप से छूटेगा। वही पुष्पदंत वररुचि नामक कवि कौशाम्बी में हुआ और सुप्रतिष्ठ नगर में माल्यवान् गुणाढ्य कवि हुआ। यथा—

अवदश्चन्द्रमौलिः कौशाम्बीत्यस्ति या महानगरी।
तस्यां सं पुष्पदन्तो वररुचिनामा प्रिये जातः ॥ १ ॥
अन्यश्च माल्यवानपि नगरे सुप्रतिष्ठाख्ये।
जातो गुणाढ्यनामा देवि तयोरेष वृत्तान्तः ॥ २ ॥

कौशाम्बी नगरी में सोमदत्त वा अग्निशिख नामक ब्राह्मण की स्त्री वसुदत्ता से वररुचि का जन्म हुआ और पिता छोटेपन ही में मर गया, इससे माता ने बड़े कष्ट से इसका पालन किया। यह छोटेपन ही में ऐसा श्रुतिधर था कि एक बेर जो सुनता या जो कला देखता, कण्ठ कर लेता और जान जाता। एक समय वेतसपुर के देवरस्वामी और कदंबक नामक ब्राह्मण के पुत्र इंद्रदत्त और व्याडि इसके घर में आये। वहाँ इन दोनों ने वररुचि को एकश्रुतिधर सुनकर प्रातिशाख्य पढ़ा और वररुचि ने उसे दुहरा दिया। उसके पिता का मित्र भवानन्द नामक नट उस रात्रि को कहीं अभिनय करता था। वह देखकर वररुचि ने अपनी माता के सामने ज्यों-का-त्यों फिर कर दिखाया। उन दोनों ब्राह्मणों को इसकी एकश्रुतिधरता से बड़ी प्रसन्नता हुई, क्योंकि जब इन दोनों ने विद्या के हेतु तप किया था, तब इनको वर मिला था कि पाटलिपुत्र में वर्ष नामक उपाध्याय से सब विद्या पाओगे। वर्ष, उपवर्ष यह दो भाई शंकर स्वामी ब्राह्मण के पुत्र थे। उनमें उपवर्ष पण्डित और धनी था तथा वर्ष मूर्ख और दरिद्री था। उपवर्ष की स्त्री से अनादर पाकर वर्ष ने विद्या के हेतु तप किया और स्कन्द से सब विद्या पाई, परन्तु स्कन्द ने कहा था कि जो एकश्रुतिधर हो उसके सामने तुम अपनी विद्या प्रकाश करना। सो जब वर्ष के पास ये दोनों ब्राह्मण गये तब उसकी स्त्री ने कहा कि

एकश्रुतिधर कोई हो तो ये अपनी विद्या प्रकाश करें, अन्यथा न प्रकाश करेंगे। इसीसे वे दोनों ब्राह्मण वररुचि को एकश्रुतिधर पाकर बड़े प्रसन्न हुए। वररुचि की माता से उन दोनों ने सब वृत्तान्त कहकर वररुचि को साथ लिया और फिर पाटलिपुत्र में आये, क्योंकि उसकी माता से भी आकाशवाणी ने कहा था कि तेरा पुत्र एकश्रुतिधर होगा और वर्ष से सब विद्या पढ़ेगा तथा व्याकरण का आचार्य होगा। वर्ष ने तब उन तीनों को विद्या पढ़ायी और बहुत प्रसन्न हुआ, क्योंकि वररुचि एकश्रुतिधर, व्याडि द्विश्रुतिधर और इन्द्रदत्त त्रिश्रुतिधर था। वर्ष को नगर के लोग मूर्ख जानते थे, पर जब एकाएकी उसकी विद्या का प्रकाश हुआ तो सब ब्राह्मण-वर्ग बड़े प्रसन्न हुए और नन्द राजा ने भी बहुत-सा धन वर्ष को दिया। फिर इन तीनों ने बड़ी विद्या पढ़ी और वररुचि ने उपवर्ष की कन्या उपकोषा से विवाह किया और उपकोषा अपने पातिव्रत और चरित्र से नन्द की भगिनी हुई। वर्ष के एक पाणिनि नामक मूर्ख शिष्य ने शिवजी से वर पाकर व्याकरण बनाया और जब वररुचि ने उससे संवाद किया तो शिवजी ने 'हुं' करके वररुचि का इन्द्रमत का व्याकरण भुला दिया, इससे वररुचि ने फिर तपस्या करके शिवजी से पाणिनी व्याकरण सीखा। यह वररुचि बहुत दिन तक योगानन्द का मन्त्री रहा और इनका नामान्तर कात्यायन था, परन्तु यह नन्द का मन्त्री कैसे हुआ और कब तक रहा ? यह यहाँ नहीं लिखते, क्योंकि प्रसंग के बाहर है। यह वन-वन फिरने लगा। जब शकटार ने चाणक्य द्वारा नन्दवंश का नाश किया, तब उदास होकर और विन्ध्याचल में कालभूति पिशाच को देखकर अपना पूर्वजन्म स्मरण करके उससे सब कथा कहकर बदरिकाश्रम में जाकर योग से अपनी गति को गया, शाप से छूटा। गन्धर्व से भी पहले जन्म में यह गङ्गातीर के प्रहार नामक ग्राम में गोविन्ददेव ब्राह्मण और अग्निदत्ता ब्राह्मणी का पुत्र देवदत्त था और प्रतिष्ठानपुर के राजा की कन्या से विवाह किया था। उस कन्या ने पहले दाँत में फूल दबाकर उसको संकेत बताया था। इससे जब वह ब्राह्मण वरदान पाकर शिव-गण हुआ तब उसकी स्त्री भी जया प्रतिहारी हुई।

१३

सूफीसन्त सरमद

भारतवर्ष वही था जहाँ हमने शताब्दियों तक राज्य किया था, हमारे शरीर में रक्त भी उन्हीं जगद्विजयी पूर्वजों का था, हमारे घर और बाहर के टीमटाम भी वैसे ही थे। श्रावणी में हम रक्षाबन्धन बाँधते थे लेकिन उस राखी में हिन्दू जाति को एक में गूँथ देने की शक्ति बाकी नहीं रह गयी थी। रामलीला हम बदस्तूर मनाते थे, लेकिन हमारे रामबाण में इतना बल कहाँ कि अत्याचारी रावण के दस सिर वेधन कर फिर वापस आ जाता। दिवाली हम करते थे लेकिन हमारे दीपकों में वह प्रकाश नहीं था जो संसार की आँखों को चकाचौंध कर देता था। होली भी हम रो-पीटकर करते ही थे लेकिन हमारा गुलाल आर्य जाति को राष्ट्रीयता के रंग में रँगने में समर्थ नहीं था। जन्माष्टमी में भगवान् का जन्मोत्सव मनाते थे लेकिन वह प्रचण्ड ज्योति कहाँ जिसके देखते-देखते परतन्त्रता की बेड़ियाँ टूटकर गिर जायँ। वे चरण कहाँ जिनके छूने से हमारे संकट की सरिता सूख जाय। वह मोहन की मुरली कहाँ जिसकी तान हमको देश-ममता के मद से मस्त कर देती। हिन्दू-जाति निष्प्राण हो गई थी, केवल बाहरी ढाँचा रह गया था। भला उससे मुगल लोग या कोई भी कैसे डरने लगे ? इसलिए हम पर आघात-पर-आघात हुए। अत्याचार की शिला पर बेईमानी के बट्टे से नवधा-भक्ति में मग्न हिन्दू पीसे गये। इनको रगड़कर नौरतन की चटनी बनाई गई।

कितने मुसलमान भी औरंगजेब के तअस्सुब के शिकार हो गये।

इस कट्टर मुसलमान बादशाह की नजरों में सिर्फ खुदा रसूल और कलाम मजीद मान लेना काफी नहीं था। किन्तु मुसलमानी मजहब की हर एक बात को जब उसी तरकीब से माने, जैसा बादशाह आलमगीर मानता था, तब आदमी पक्का मुसलमान समझा जाता था। इतने पर भी अगर उस पर किसी तरह का पोलिटिकल सुबहा हुआ तो फौरन कोई मजहबी कच्चाई भी निकल आती थी। ऐसे लोगों में वे फकीर और महात्मा लोग भी थे जिनको दारा मानता और जानता था। शाहमुहम्मद नामक एक अच्छा सन्त था। वह बदख्शाँ का रहनेवाला और लाहौर के मशहूर साधु, मियाँ मीर का चेला था। कश्मीर में उसने अपनी कुटी बनाई। उसके मुँह से ज्ञान, वैराग्य और वेदान्त की अमूल्य शिक्षाएँ और मनोहर पद्य निकलते रहते थे। दूर-दूर के लोग उसके दर्शन के लिये आते थे। दारा और जहाँनारा की तरफ से भी उसकी बड़ी खातिर होती थी। बादशाह होने पर औरंगजेब ने जहाँ दारा के और दोस्तों से बदला लिया, वहाँ इस फकीर पर भी उसकी कुदृष्टि पड़ी। लाहौर में आकर बड़ी मुसीबत में शाहमुहम्मद ने अपने दिन काटे।

सूफी मजहब के नाम से पाठक अपरिचित न होंगे। यह मुसलमानी लिवास में अद्वैत वेदान्त का दूसरा स्वरूप है। वेदान्त के "अहं ब्रह्मास्मि", "शिवोऽहं" इत्यादि वाक्यों के भाव को लेकर सूफी महात्माओं ने कितने ही अच्छे-अच्छे ग्रन्थ और पद बना डाले हैं। शंकर भगवान्, महात्मा रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ महाराज ने वेदान्त-शिक्षा को खूब अच्छी तरह समझाया है, लेकिन इन सबसे पहले खुद योगिराज कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के रणस्थल में गीता-रूप वेदान्त का तत्त्व संसार को भेंट किया है। जीव अमर-अजर है। न वह जन्म धारण करता है, न वह बालक, न युवा और न वृद्ध है। सुख-दुःख का भोगनेवाला, बन्धनों में भटकनेवाला यह कोई बन्दी नहीं है, यह स्वयं परब्रह्म चिदानन्द, शान्तिस्वरूप, अनाम, अनीह, अनन्त, अपार और अच्युत है। पंचभौतिक तत्त्वों से बने हुए शरीर का उपयोग करते हुए भी वह इससे परे है। स्थूल और सूक्ष्मादि अनेक देह उसके मोटे-पतले, भिन्न-भिन्न प्रकार के

वस्त्र मात्र हैं। माता-पिता, भाई-बन्धु, स्त्री और पुत्र कोई किसी का कुछ नहीं। इसका पता भी तो नहीं है कि कौन कितने दफे किसका पिता और कितनी बार किसका पुत्र हो चुका है। इसलिए महात्मा लोग संसार में रहकर भी संसार के नहीं होते। कमल का पत्ता जल में रहकर भी नहीं भींगता। जब संसार के नाते-रिश्ते थोड़ी देर के तमाशे हैं और जीव मरता नहीं, केवल पुराने कपड़े उतारकर नये धारण कर लेता है, तब शोक किस बात का ? किसीके मरने पर गम क्यों मनाया जाय ? तुच्छ शरीर से निकलकर संसार के विराट्-रूप में प्रवेश करने की खुदाई को जुदाई क्यों माना जाय ? इसलिए सन्त लोग परिवार में रहते हुए भी सदा उसको त्यागने के लिए सन्नद्ध रहते हैं। वियोग होने पर वे अपने योग के पंखों पर ज्ञान-गगन में मँडराने लगते हैं। चिड़ियाँ टहनी पर बैठती जरूर हैं लेकिन टहनी कट जाने से वह उसके साथ जमीन पर नहीं गिरतीं, ऊपर आकाश-मण्डल में उड़ने लगतीं हैं। साधु लोग धन-दौलत की भी परवाह नहीं करते हैं। जब दुनियाँ ही फ़ानी है तब उसके माल-टाल का क्या ठिकाना ? फिर जो जगत्‌भर के लोगों को अपना स्वरूप मानता है, वह संसार के सर्वस्व को अपना मानते हुए अपनी शान में मस्त है। बादशाह होने की वजह से आप जरूर बड़े कहे जायँगे, लेकिन आपसे कहीं बढ़कर वह है जिसने आपकी तरह असंख्य बादशाहों की सल्तनत दुनिया को माफी बख्श दी है। अमेरिका के प्रेसीडेण्ट ने महात्मा रामतीर्थ महाराज से कुछ माँगने के लिए कहा। राम शाहंशाह ने हँसते हुए कहा—

बादशाह दुनिया के हैं मोहरे मेरे शतरंज के।
दिल्लगी की चाल है सब शर्त सुलहो जंग के॥

ऐसे देवताओं के लिए मौत भी एक मजाक का सामान है। भीष्म पितामह ने शरशय्या पर धर्मोपदेश दिये। हजरत मसीह ने सूली पर भी अपने प्रतिवादियों के लिए प्रार्थना की, महर्षि सुकरात ने आनन्द से विष का प्याला मुँह में लगाया। रामतीर्थजी महाराज ने सच्चे हिन्दू की तरह भक्ति से अपना शरीर गंगामैया को भेंट कर दिया।

गंगा मैया तेरी बलि जाऊँ।
हाड़-मांस तुझे अर्पण कर दूँ यही फूल बताशा लाऊँ।
रमण करूँ मैं शतवारा में न तो नाम न राम कहाऊँ॥

जैसा कहा जा चुका है कि वेदान्ती और सूफ़ी मजहब में नाम और रूप का फ़र्क है। सूफ़ी खुदा की याद में मस्त रहता है। बाग में, गुल में, बुलबुल और सरों में, कामिनी के चाँद-से मुखड़े में, मस्तानी तानों में, जहाँ कहीं देखता है यार की सूरत, मोहन की माधुरी मूरत नजर आती है। जब तक मंजिलें मकसूद तक नहीं पहुँचे, हजार झगड़े। रास्ते की दिक्कतें और लाख उधेड़बुन हैं, लेकिन जब जो जिसका था उससे मिलकर एक हो गया, फिर चिन्ता किस बात की ? योग कैसा, भोग कैसा, रोजे और नमाज कैसे ? बस, गूँगे बनकर बैठ गये, कलमा कलाम भी भूल गये, प्यारे प्रीतम के प्रेम की लहर चारों तरफ लहरा रही है। देखकर आँखें सहम-सी गई हैं।

दरियाय इश्क बह रहा लहरों से बेशुमार।

सरमद नाम का एक मशहूर सूफ़ी था। दारा इसको मानता था। इसलिए यह औरंगजेब का क्रोध-भाजन हुआ। औरंगज़ेब की आज्ञा से मक्कार मुसलमानों की एक कमेटी सरमद का न्याय करने को बैठी। चार्ज लगाया गया कि वह नंगा रहता है। अगर असल में औरंगजेब का यही मतलब था तो नागे-वैरागी पहले कत्ल होने चाहिये थे, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। सरमद का बड़ा भारी और मुख्य अपराध तो यह था कि वह दारा का मित्र था। दारा के मरने पर भी औरंगजेब डरता था कि कहीं सरमद अपनी क्रूरता से कुछ बला न गिराए। औरंगजेब को पता नहीं था कि सन्तों के लिए न कोई मित्र है न कोई शत्रु और न संसार को तृण-समान जाननेवाले महात्मा को औरंगजेब की सल्तनत और शान की परवा थी। अधम औरंगजेब के अन्यायी न्यायकारियों ने फकीर को प्राण-दण्ड की आज्ञा दी। लेकिन जो इन लोगों के लिये बड़ी भारी चीज थी, वह सरमद के लिए सहज दिल्लगी थी। जो दिन-रात प्रीतम के

प्रेम में मतवाला रहता था, वह कितने दिन तक उसका वियोग सह सकता था ?

कौन सी है वह जुदाई की घड़ी जो उम्र भर,
आरजू ए वस्ल में यह दिल भटकता ही रहा ।

लेकिन—

जाकर जापर सत्य सनेहू ।
सो तेहि मिलत न कछु सन्देहू ।

जिसका जिस पर सच्चा प्रेम होता है, वह अवश्य उसे मिलता है।

पा गया बस चेहरए मकसूद की लैली के वह ।
जो हुआ है मिस्ल मजनूँ बुलबुले गुलजारे इश्क ।

मौत की आज्ञा फकीर को सुनाई गई। उसके आनन्द का ठिकाना नहीं । इतने दिन अकेले रहनेवाले, जुदाई में तड़पने वाले सरमद का ब्याह होगा । ब्याह होगा ऐसे पुरुष से जिससे बढ़कर संसार में या कहीं कोई भी न हुआ और न कोई होगा । वह समझता था—

भूली यौवन मद करे अरी बावरी बाम ।
यह नैहर दिन दोय को अन्त कन्त से काम ।

मण्डपरूपी सूली तैयार की गई । वहीं सरमद से उसके प्यारे का मिलन होगा । पल-पल युग के समान बीत रहा है । अपने अवगुणों का ध्यान करके पैर आगे नहीं पड़ता, कलेजा दहल रहा है, आनन्द, भय और लज्जा से रोमांच हो आये हैं । प्रीतम के दिव्य स्वरूप का ध्यान करके आँखें झप जाती हैं । देखते-देखते घड़ी आ गई, ओफ कैसा दिव्य स्वरूप है ! क्या बाँकी झाँकी है !

तेरी सूरत से नहीं मिलती किसीकी सूरत ।
हम जहाँ में तेरी तस्वीर लिये फिरते हैं ॥

देखते-देखते विवाह की घड़ी आ गई । अब प्रीतम सरमद के सिर में सिन्दूर भरेंगे । उसके सिर में लालिमा की रेखा दौड़ेगी । ऐसे

बड़े का ब्याह, फिर चुटकी से जरा-सा सिन्दूर थोड़े ही लगाया जायगा। प्रेम में भींगे हुए, मस्ती में चूर प्रेमियों की शादी ! सर्वांग लाल करना होगा, खड्ग-शृंगार किया जायगा। सरमद माथा खोले, सिर नीचे किए, संकोच से सिकुड़ा हुआ खड़ा है। प्यारे ने आकर हाथ से ठुड्डी पकड़कर मुँह ऊपर उठा लिया, आँखें मिल गयीं, अन्तर न रहा, बिछुड़े हुए मिलकर एक हो गये। जो तुम वही हम और जो हम वही तुम, जब ऐसी बात है फिर हम और तुम का भेद कहाँ ?"

दरस बिनु दूखन लागे नैन।
जब से तुम बिछुरे मेरे प्रभुजी कबहुँ न पायो चैन।
हमारी उमरिया होली खेलन की,

× × ×

पिया मोसो मिलिके बिछर गयी हो।
पिय हमरे हम पिय की पियारी,
पिय बिच अन्तर परि गयो हो।
पिया मिले तब जियो मोरी सजनी,
पिया बिनु जियरा निकल गयो हो।
इत गोकुल उत मथुरा नगरी,
बीच डगर पिय मिल गयो हो।
धरमदास बिरहिन पिय पाये,
चरन कमल चित गहि रहो हो॥

अब सूली पर चढ़ा सरमद और सामने उसका मनचोर माखनचोर हरि—

यार को हमने जा-बजा देखा।
कहीं जाहिर कहीं छिपा देखा॥

खड्ग ने अपना काम किया, सरमद और उसके प्रीतम मिलकर एक हो गये। प्रेम के गीत गाता हुआ सरमद बिदा हो गया।

साकी ने अपना हाथ दिया भर के जाम सोज,
हम जिन्दगी के कैफ का टूटा खुमार आज।

महात्मा इस लोक से हँसते-हँसते बिदा हो गया। उसके नश्वर शरीर का नाश हो गया लेकिन अपना अमर नाम वह छोड़ गया और हमारे लिए "अनल हक" का उपदेश। सज्जन लोग दूसरों के लिए कष्ट उठाते हैं, कष्ट को वे कष्ट ही नहीं समझते। तो सोने की परीक्षा कैसे हो ? खराद पर चढ़े बिना हीरे की जाँच कैसे हो ?

किया वा वा अनलहक का हुआ सरदार आलम का
अगर चढ़ता न सूली पै तो वह मंसूर क्यों होता !

अत्याचार का मुख्य प्रयोजन होता है लोगों को दबाना, लेकिन परिणाम इसका उल्टा होता है। दुनिया के इतिहास में जहाँ कहीं आप देखेंगे, अत्याचार से असन्तोष का फैलना पाया जाता है। रगड़ लगने से चन्दन-वन में भी आग लग जाती है। उसी तरह औरंगजेब के जुल्म ने मरी हुई जाति को सचेत कर दिया। अकबर की कुटिल नीति के क्लोरोफार्म से जो बेहोश हो गये थे, उनको झोंके देकर औरंगजेब ने होश में ला दिया। साधु सिक्ख योद्धा हो गये, लुटेरे मरहठे फतेहयाब दुश्मन हो गये, अपनी मर्यादा से गिरे हुए राजपूत फिर कमर कसकर खड़े हो गये।

इनके अतिरिक्त सतनामियों ने भी अत्याचार सहकर सर उठाये थे। एक मुसलमान सिपाही ने कुछ सतनामी किसानों को सताया, जिससे पीड़ित होकर उन लोगों ने उसको दण्ड दिया। मुसलमानी राज्य में मार खाकर भी मुसलमान सिपाही को मारने का हिन्दुओं को क्या हक था ? सतनामियों को दण्ड देने के लिये कुछ सिपाही भेजे गये थे, जो परास्त हुए। अन्त में एक बड़ी सेना दण्ड देने के लिए भेजी गयी। बहादुर सतनामी सामान के न होते हुए भी, बड़ी वीरता से लड़ते रहे। अन्त में परास्त हुए और हजारों की संख्या में मारे गये।

१४

पण्डितों की पंचायत

यह संयोग की बात कही जायगी कि इस बार के एकादशीवाले झगड़े की सभा में मुझे भी उपस्थित रहना पड़ा। मैं बिल्कुल ही नहीं जानता था कि काशी के पंचाङ्ग-निर्माताओं ने गाँव में रहनेवाले विश्वासपरायण पण्डितों को आलोड़ित कर दिया है। वैशाख शुक्ल पक्ष की एकादशी किसीने बृहस्पतिवार के दिन बता दी है और किसीने शुक्रवार के दिन। अचानक जब एक दिन पण्डितों की पंचायत में मुझे बुला भेजा गया तो एकदम शस्त्रहीन योद्धा की भाँति मुझे संकोच के सहित ही जाना पड़ा। सभा के उपस्थित पण्डितों में से अधिकांश मुझे जानते थे, किसी-कसी के मत से मैं घोर नास्तिक भी था, फिर भी न जाने क्यों इन्होंने मुझे बुलाने की बात का समर्थन किया। शायद इसलिए कि मैं कुछ ज्योतिष-शास्त्र से परिचित समझा जाता था और आलोच्य विषय का कुछ सम्बन्ध उक्त शास्त्र से भी था। जो हो, मैंने इसे पण्डित-मण्डली की उदारता ही समझी और शुरू से आखिर तक अपना कोई स्वतन्त्र मत व्यक्त न करने का संकल्प-सा कर लिया।

मैं जब सभास्थल पर पहुँचा तो विचार आरम्भ हो चुका था। इसीलिए यह जानने का मौका ही नहीं मिला कि सभा का कोई सभापति या सरपंच है या नहीं, शायद उसका निर्वाचन ही नहीं हुआ था। मुझे देखते ही पण्डितजी ने उत्तेजित भाव से कहा कि 'देखिए विश्वपंचाङ्ग वाले ने क्या अनर्थ किया है, इन लोगों का गणित तीन लोक से न्यारा होता है। भाई, सब जगह जबरदस्ती चल सकती है लेकिन शास्त्र पर

जबरदस्ती नहीं चलेगी ।' मैंने मन ही मन इनका अर्थ समझ लिया । यह मुझे युद्ध-क्षेत्र में आ डटने की ललकार थी । मैं हँसकर रह गया ।

शास्त्र पर जबरदस्ती ! मेरी भावुकता को जबरदस्त धक्का लगा । मेरा विद्रोही पाण्डित्य तिलमिलाकर रह गया । क्षणभर में मेरे सामने सम्पूर्ण ज्योतिषियों का इतिहास का रूप खेल गया । एक युग था, जब हमारे देश में तलगघ मुनि की अत्यन्त सूक्ष्म गणित प्रचलित थी । लेकिन पण्डितों का दल संतुष्ट नहीं हुआ, उसने किसी भी प्राचीन शास्त्र को प्रमाण न मानकर अपना अनुसन्धान जारी रखा । गणना सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती गई । अचानक भारतवर्ष के उत्तरी-पश्चिमी किनारे पर यवन-वाहिनी का भीषण रण-तूर्य सुनाई पड़ा । देश के विद्यापीठ—गन्धार से लेकर साकेत तक—एकाधिक बार विध्वस्त हुए । भारतवर्ष कभी जीतता रहा, कभी हारता रहा, कभी सारा भारतीय साम्राज्य समृद्धिशाली नगरों से भर गया, कभी श्मशान-परिणत जनपदों के हाहाकार से झनझना उठा । पर अनुसन्धान जारी रहा । भारतीय और ग्रीक पण्डितों के ज्ञान का संघर्ष भी चलता रहा । हठात् ईसा की चौथी शताब्दी में भारतीय ज्योतिष के आकाश में कई ज्वलन्त ज्योतिष्क पिण्ड एक ही साथ चमक उठे । भारतीय गणना बहुत परिमाण में यावनी विद्या से समृद्ध हुई । यावनी विद्या हतदर्प होकर भारतीय गौरव को वरण करने लगी । उस दिन निःसंकोच भारतीय पण्डितों ने घोषणा की—"यवन म्लेच्छ हैं सही, पर इस (ज्योतिष) शास्त्र के अच्छे जानकार हैं । वे भी ऋषिवत् पूज्य हैं, ब्राह्मण ज्योतिष की तो बात ही क्या है ।" (वर्ग संहिता)

मैंने कल्पना के नेत्रों से देखा महागणक आचार्य वराहमिहिर न्यायशासन पर बैठकर तत्काल प्रचलित पाँच सिद्धान्तों के मतों का विचार कर रहे हैं । इनमें दो विशुद्ध भारतीय मत प्राचीनतर सिद्धांत हैं, दो में यावनी विद्या का असर हैं, पाँचवाँ (सूर्य-सिद्धान्त) स्वतन्त्र भारतीय चिन्ता का फल है । वराहमिहिर ने पहले दोनों यावनी प्रभावापन्न सिद्धान्तों की परीक्षा की, पौलिश का सिद्धान्त अच्छा मालूम हुआ, रोमन भी उसके निकट ही रहा । आचार्य ने छोटी-मोटी भूलों का ख्याल न करते हुए

साफ-साफ कह दिया—अच्छे हैं। फिर 'सूर्य-सिद्धान्त' की जाँच हुई। आचार्य का चेहरा खिल उठा। यह और भी अच्छा था। और अन्त में ब्रह्म और शाकल्य के सिद्धान्तों की बारी आई। आचार्य के माथे पर जरा-सा सिकुड़न का भाव दिखाई दिया, उन्होंने दोनों को एक तरफ ठेलते हुए कहा—"उहूँ! ये दूर-विभ्रष्ट हैं। उस दिन किसीकी हिम्मत नहीं थी कि आचार्य को शास्त्र पर जबरदस्ती करनेवाला कहे, क्योंकि वह स्वतन्त्र चिन्ता का युग था, भारतीय समाज इतना रूढ़िप्रिय और परापेक्षी नहीं था। वह ले भी सकता था और दे भी सकता था।" मैंने देखा ब्रह्मगुप्त के शिष्य भास्कराचार्य निर्भीक भाव से कह रहे हैं—"इस गणितस्कन्ध में युक्ति ही एकमात्र प्रमाण है, कोई भी आगम प्रमाण नहीं।" यह बात सोलह आने सही थी और भारतीय पण्डित-मण्डली को सही बात स्वीकार करने का साहस था। पर आज क्या हालत है!

मैं जिस समय यह चिन्ता कर रहा था, उसी समय पण्डित लोग 'निर्णय सिन्धु' और 'धर्मसिन्धु' के पन्ने उलट रहे थे। नाना प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध ऋषियों, पुराणों और संहिताओं के वचन पढ़े जा रहे थे और उनकी संगतियाँ लगाई जा रही थीं। मैं उद्विग्न-सा होकर सोच रहा था कि ये निबन्ध-ग्रंथ क्यों बनाये गये? मुझे ऐसा लगा कि पश्चिम में आत्म-विश्वासी धर्म का जन्म हुआ है, जो किसीसे समझौता करना नहीं जानता, किसीको मित्र नहीं मानता। उसके दाहिने हाथ के कठोर कृपाण से बड़ी-बड़ी सभ्यताओं के लौहप्राचीर चूर-मार हो जाते हैं, और बायें हाथ के अमृत आश्वासन से पराजित जन-समूह एक नये जीवन और नये वैभव के साथ जी उठता है। जो एक बार उसके अधीन हो जाता है वही उसके रंग में अपना मस्तक रंग जाता है। वह इस्लाम है।

इस्लाम विजय-स्फीत-वक्ष होकर भारतीय संस्कृति को चुनौती देता है, उसके बारम्बार आक्रमण से उत्तरी भारत संत्रस्त हो उठता है और कुछ काल के लिए समूचा हिन्दुस्तान त्राहि-त्राहि की मर्मभेदी आवाज से गूँज उठता है। धीरे-धीरे उत्तर के विद्यापीठ दक्षिण और पूर्व की ओर खिसकते जाते हैं। महाराष्ट्र नवीन आक्रमण से मोर्चा लेने के लिए

कटिबद्ध होता है और भारतीय विश्वास के अनुसार सबसे पहले अपने धर्म की रक्षा को तैयार है। भारतीय पण्डितों ने कभी इतनी मुस्तैदी के साथ स्तूपभूत शास्त्रसंग्रह की छानबीन नहीं की थी, शायद भारतीय संस्कृति को कभी ऐसी विकट ललकार के सुनने की सम्भावना नहीं हुई थी। क्षणभर के लिए ऐसा जान पड़ा कि भारतीय मनीषी ने स्वतन्त्र चिन्ता को एकदम त्याग दिया है, केवल टीका, केवल निबन्ध, केवल संग्रह-ग्रन्थ। शास्त्र के किसी अंग पर स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं लिखे जा रहे हैं। सर्वत्र टीका-पर-टीका, तिलक-पर-तिलक तस्यापि तिलक एक कभी समाप्त न होनेवाली टीकाओं की परम्परा।

देखते-देखते टीका-युग का प्रभाव देश के इस छोर से उस छोर तक व्याप्त हो जाता है। महाराष्ट्र, काशी, मिथिला और नवद्वीप टीकाओं और निबन्धों के केन्द्र हो उठते हैं। शास्त्र का कोई वचन नहीं छोड़ा जाता है, किसी भी ऋषि की उपेक्षा नहीं की जा रही है। पर भयंकर सतर्कता के साथ प्रचलित लोक-नियमों का ही समर्थन किया जाता है। इस नियम के विरोध में जो ऋषि-वचन उपलब्ध होते हैं उन्हें 'ननु' के साथ पूर्वपक्ष में कर दिया जाता है और उत्तर-पक्ष सदा स्थानीय आचारों का समर्थन करता है। पण्डितों की सभा में इसीको संगति लगाना कहते हैं। संगति लगाने का यह रूप मुझे हतदर्प भारतीय धर्म की सबसे बड़ी कमजोरी जान पड़ी। मैं ठीक समझ नहीं सका कि शास्त्रीय वचनों के इन विशाल पर्वतों को खोदकर ये चुहिया क्यों निकाली जा रही है।

यह जो एकादशी व्रत का निर्णय मेरे सामने हो रहा है, जिसमें बीसियों आचार्यों के सैकड़ों श्लोक उद्धृत किये जा रहे हैं, अपने-आपमें ऐसा क्या महत्त्व रखता है जिसके लिए एक दिन सैकड़ों पण्डितों ने परिश्रमपूर्वक सैकड़ों निबन्ध रचे थे और आज आसेतु हिमाचल समस्त भारतवर्ष के पण्डित उनकी सहायता से व्रत का निर्णय कर रहे हैं? क्या श्रद्धापूर्वक किसी एक दिन उपवास कर लेना पर्याप्त नहीं था? यदि एकादशी किसी दिन ५५ दण्ड से ऊपर हो गई, या किसी दिन उदयकाल में न आ सकी, या किसी बार दो दिन उदयकाल में आ गई तो क्या

बन या बिगड़ गया ? किसी भी एक दिन व्रत कर लेना क्या पर्याप्त नहीं है ? मुझे 'ननु', 'तथाच' और 'उत्तंच' की धुआँधार वर्षा से मध्ययुग का आकाश इतना आविल जान पड़ा कि बीसवीं शताब्दी का ज्ञानलोक अनेक चेष्टाओं के बाद भी निबन्धकारों की असली समस्या तक नहीं पहुँच सका। मैंने फिर एक बार सोचा, शास्त्रीय वचनों के इन विशाल पर्वतों को खोदकर यह चुहिया क्यों निकाली जा रही है।

लेकिन आज चाहे कुछ भी क्यों न जान पड़े, टीका-युग का प्रारम्भ अर्थहीन नहीं था। मुझे साफ दिखाई दिया, भारतवर्ष की पदध्वस्त संस्कृति हेमाद्रि के सामने खड़ी है, चेहरा उसका उदास पड़ गया है, अश्रु-अन्ध नयन कोटरशायी-से दीख रहे हैं, वदन-कमल मुरझा गया है। हेमाद्रि का मुखमण्डल गम्भीर है, भ्रूदेश किंचित् कुंचित हो गये हैं, विशाल ललाट पर चिन्ता की रेखायें उभड़ आई हैं, अधरोष्ठ दाँतों के नीचे आ गया है—ये किसी सुदूर की वस्तु पर दृष्टि लगाये हैं। यह दृष्टि कभी अर्थहीन नहीं हो सकती, वह किसी निश्चित सत्य पर निपुण भाव से आबद्ध है। शायद वह भारतवर्ष के विच्छिन्न रस्म और रिवाजों की बात होगी, शायद वह स्तूपभूत शास्त्रों के मतभेद की चिन्ता होगी, शायद वह सम्पूर्ण आर्य-सभ्यता को एक कठोर नियम-सूत्र में बाँधने की चेष्टा होगी—पर वह थी बहुत दूर की बात। मुझे इसमें कोई संदेह नहीं। जिस पण्डित के लिए समग्र शास्त्र हस्तामलकवत् थे, उस महामानव का कोई प्रयत्न निरर्थक नहीं हो सकता।

अगर सारा भारतवर्ष एक दिन उपवास करे, एक ही दिन पारण करे, एक ही मुहूर्त में उठे-बैठे, तो निश्चय ही वह एक सूत्र में ग्रथित हो जाय। हेमाद्रि और उनके अनुयायियों का यही स्वप्न था, वह सफल भी हुआ। आज की यह पंचायत उसी सफलता का सबूत है। इस समय यह विचार नहीं हो रहा है कि विश्वपंचाङ्ग का मत मान्य है या और किसी का, बल्कि इस बात का निर्णय होने जा रहा है कि वह कौनसा एक और केवल एक दिन होना चाहिए, जब सारे भारत के

गृहस्थ एक ही चिन्ता के साथ उपोषित होंगे। आज की सभा का यही महत्त्व है।

हेमाद्रि का स्वप्न सफल हुआ; पर उद्देश्य नहीं सिद्ध हो सका। भारतवर्ष एक तिथि को व्रत और उपवास करने लगा, एक मुहूर्त में उठने-बैठने के लिए बद्ध-परिकर हुआ, पर एक नहीं हो सका। उसकी कमजोरी केवल रस्मों और रिवाजों तक ही सीमित नहीं थी, यह तो बाहरी कमजोरी थी। जातियों और उपजातियों से उसका भीतरी अङ्ग जर्जर हो गया था, हजारों सम्प्रदायों में विभक्त होकर उसकी आध्यात्मिक साधना शतच्छिद्र कलश की भाँति संग्रहहीन हो गयी थी—वह हतज्योति उल्का-पिण्ड की भाँति शून्य में छितराने की तैयारी कर रहा था।

लेकिन डूबते-डूबते भी सँभल गया। तकदीर ने वक्त पर उसकी खबर ली, ज्यों ही नाव डगमगायी, त्यों ही किनारा दीख गया। और भी सुदूर दक्षिण से भक्ति की निबिड़ घनघटा दिखाई पड़ी; देखते-देखते यह मेघखण्ड सारे भारतीय आसमान में फैल गया। आठ सौ वर्षों तक इसकी जो धारासार वर्षा हुई, उसमें भारतीय साधन का अनेक कूड़ा बह गया, उसके अनेक बीज अंकुरित हो उठे। भारतवर्ष नये उत्साह और नये वैभव से शक्तिशाली हो उठा। उसने कण्ठ से दृढ़ता के साथ घोषित किया—प्रेम ही परम पुरुषार्थ है। विधि और निषेध, शास्त्र और पुराण, नियमं और आचार, कर्म और साधना, इन सबके ऊपर है यह अमोघ महिमाशाली प्रेम। प्रेमी जाति और वर्ण से ऊपर है, आश्रम और सम्प्रदाय से अतीत है।

जिन दिनों की बात हो रही है उन दिनों भारतवर्ष का प्रत्येक कोना तलवार की मार से झनझना रहा था, बड़े-बड़े मन्दिर तोड़े जा रहे थे, मूर्तियाँ विध्वस्त की जा रही थीं, राज्य उखाड़े जा रहे थे। विच्छिन्न हिन्दू-शक्ति जीवन के दिन गिन रही थी और साथ ही दो भिन्न दिशाओं से उसे संहत करने का प्रयत्न चल रहा था। विच्छेद-संघात के दो परस्पर विरोधी प्रयत्नों से एक अज्ञातपूर्व दशा की सृष्टि हुई। हिन्दू सभ्यता नयी चेतना के साथ जग उठी। आज जो आलोचना चल रही है वह उसी

चेतना का भग्नावशेष है। उसमें स्फूर्ति नहीं रह गई है। नीरस और प्रलम्बमान तर्क-जाल से उकताकर मैं उद्विग्न हो रहा था। जी में आया, वहाँ से उठ चलूँ और इस विचार के आते ही मेरी कल्पना वहाँ से उठकर मुझे अन्यत्र ले चली।

मुझे ऐसा जान पड़ा, मैं सारे जगत् के छोटे-छोटे व्यापार को देख सकता हूँ। मेरी दृष्टि समुद्र पार करके अद्‌भुत कर्ममय लोक में पहुँची। यहाँ के मनुष्यों मे किसीको फुरसत नहीं जान पड़ती, सबको समय के लाले पड़े थे। सारे द्वीप में एक भी ऐसा गाँव नहीं मिला, जहाँ घण्टों तक एकादशी-व्रत के निर्णय की पंचायत बैठ सके। सभी व्यस्त, सभी चंचल, सभी तत्पर। मैं आश्चर्य के साथ इनकी अपूर्व कर्म-शक्ति देखता रह गया। यहाँ से लाल, काली और नीली आदि अनेक तरह की तरंगें बड़े वेग से निकल रही थीं और सारे जगत् के वायुमण्डल को मुहूर्तभर में तरंगित कर देती थीं और भारतवर्ष के शान्त वायुमण्डल पर भी ये बार-बार आघात करती हुई नजर आयीं। वह भी कुछ विक्षुब्ध हो उठा। ये विचारों की लहरें थीं।

मैं सोचने लगा, यूरोप से आये हुए नये विचार किस प्रकार नित्यप्रति हमारे समाज को अज्ञातभाव से एक विशेष दिशा की ओर खींचे लिये जा रहे हैं। पुस्तकों, समाचारपत्रों, चलचित्रों और रेडियो आदि के प्रचार से समाज के विचारों में भयंकर क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। भयंकर इसलिए कि अभी तक यह समाज इस क्रान्तिकारी विचार के महाभार को सँभालने के योग्य नहीं हुआ है—उसके पैर लड़खड़ा रहे हैं। उसके कन्धे दुर्बल हैं, उसकी छाती धड़क रही है। हम सन्यस्त की तरह इन विचारों को देखते हैं, पर अज्ञात भाव से ये ही हमारे अन्दर घर कर जाते हैं तो या तो हम जान ही नहीं सकते हैं या जानते हैं तो घबड़ा उठते हैं। आज की सभा भी उसी घबड़ाहट का एक रूप है।

जिस दिन तक भारतीय ज्योतिष-शास्त्र के साथ इस नवीन विचार का संघर्ष नहीं हुआ था तब तक दृश्य-अदृश्य गणना नामक दो अद्भुत

शब्दों का आविष्कार नहीं हुआ था। साधारण दिमाग को यह समझ में नहीं आयेगा कि गणना ज्योतिष की प्रत्यक्ष गणना दृश्य और अदृश्य एक ही साथ कैसे हो सकती है। पण्डित लोग इस बात को इस प्रकार समझाते हैं—पहली तरह की गणना वह जिसे हमारे प्राचीन आचार्यों ने बताई है। इस पर से अगर ग्रह गणित करो तो कुछ स्थूल आता है, अर्थात् उस स्थान पर से ग्रह कुछ इधर-उधर हटा हुआ नजर आता है, आधुनिक वैज्ञानिक गणना से वह ठीक स्थान पर दिखता है। यह तो कहा नहीं जा सकता कि ऋषियों की गणना गलत है। असल बात यह है कि वह अदृश्य गणना है, वह आसमान में ग्रहों के यथास्थान दिखने की गणना नहीं है, बल्कि एकादशी आदि व्रतों के निर्णय की गणना है। अदृश्य से व्रत भी अदृश्य हैं, इनके फल भी अदृश्य हैं, फिर इनकी गणना क्यों न हो ? दृश्य गणना आधुनिक विज्ञान-सम्मत है। इसका काम ग्रहण आदि दृश्य पदार्थों को दिखाना है। कुछ पण्डित पहली गणना को ही मानकर पत्रा बनाते हैं, कुछ दूसरी के हिसाब से, कुछ दोनों को मिलाकर। इन दोनों को मिलाने से जिस 'दृश्यादृश्य' नामक विसंकुल गणना का अवतार हुआ है उसमें कई पक्ष हैं, कई दल हैं, अनेक मत खड़े हैं। झगड़ा बहुत-सी छोटी-छोटी बातों तक पहुँचा हुआ है, उदाहरण के लिए मान लिया जाय कि किसी प्राचीन पण्डित ने कहा कि 'क' से 'ख' स्थान का देशान्तर-काल एक घंटा है और आज के इस वैज्ञानिक युग में प्रत्यक्ष सिद्ध हुआ है कि एक घंटा नहीं, पौन घंटा है। अब कौन-सा मत लिया जाय ? कोई एकादशी व्रत के लिए प्राचीन आचार्य की बात पर चिपका हुआ है, दूसरा इतनी-सी बात में उदार होना पसन्द करता है। इन अनेक झगड़ों के कारण एकादशी व्रत का निर्णय करना बड़ा मुश्किल हो गया है। प्रत्येक पक्ष अलग-अलग मत का समर्थन करता है। यह पश्चिमी विचारों के संघर्ष का परिणाम है। आज की इस छोटी-सी सभा का कोई भी पण्डित यह बात ठीक-ठीक नहीं समझ रहा है। एकादशी व्रत का झगड़ा शारदा ऐक्ट से कम खतरनाक नहीं है। बाबू भगवानदास के प्रस्तावित कानून से कम उद्वेगजनक नहीं है।

अगर ये कानून भारतीय संस्कृति को हिला सकते हैं तो यह झगड़ा और भी हिला देगा !

लेकिन भारतीय संस्कृति क्या सचमुच ऐसी कमजोर नींव पर खड़ी है कि कोई एक ऐक्ट, कोई एक कानून और कोई एक विचार-विनिमय उसे हिला दे ? मैं समझता हूँ, नहीं । मेरे समाने छः हजार वर्षों की और सहस्रों योजन विस्तृत देश की विशाल संस्कृति खड़ी है, उसके इस वृद्ध शरीर में जरा (बुढ़ापा) नहीं है, वह किसी चिर नवीन प्रेरणा से परिचालित है । उसके मस्तिष्क में सहस्रों वर्ष का अनुभव है, पर आलस्य नहीं है । वह अपूर्व शक्ति और अनन्त धैर्य को अपने वक्षस्थल में वहन करती आ रही है । उसने अपने विराट् परिवर्तनशील दीर्घ जीवन में क्या-क्या नहीं देखा है ? कुछ और देख लेने में उसे कुछ भी झिझक नहीं, कुछ भी हिचक नहीं है । जो लोग इस तेजोमय मूर्ति को नहीं देख सकते वही घबराते हैं, मैं नहीं घबरा सकता ।

शास्त्र-चर्चा अब भी चल रही थी ! मैं सोचने लगा—क्या यह जरूरी नहीं है कि सभी पंचाङ्गवाले एक मत होकर एक ही तरह का निर्णय करें ? शायद नहीं । क्योंकि हमारा देश एक विचित्र परिस्थिति में से गुजर रहा है । वह पुराना रास्ता छोड़ने को बाध्य है, किन्तु नया रास्ता अभी मिला नहीं । कुछ पुराने के मोह में और कुछ नये के नशे में भूल रहा है । किसी दूसरे के दिखाये रास्ते से जाने की अपेक्षा खुद रास्ता ढूँढ़ लेना अच्छा है । चलने दो इन भिन्न-भिन्न मतों, इन भिन्न-भिन्न पक्षों को । भारतीय जनमत स्वयमेव इनमें से अच्छे को चुन रहा है । इस दृष्टि से इस सभा का बड़ा महत्त्व है । यह भटके हुए लोगों का राह खोजने का प्रयास भी अच्छा है ।

१५

शिरीष का आग्रह

कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे,
शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।

कालिदास, तुम्हें क्या हो गया, शकुन्तला के कानों में शिरीष का फूल नहीं खोंसा गया—बस, इतनी-सी बात पर पछता रहे हो ! शिरीष की केसर पूरे कपोलों पर छा नहीं पाई, और तुम्हें शकुन्तला सूनी-सूनी-सी लगती है । तुम वासन्ती रातों के कवि, तुम्हें ग्रीष्म का दिन कैसे इतना लुभा गया है ? आम्रमंजरी को भूलकर तुम शिरीष के पीछे कैसे पागल होने लगे ? वसन्त का उन्माद, वर्षा की उत्कण्ठा, शरद् की तृप्ति (तुम्हारे ही शब्दों में 'पर्याप्तचन्द्रता') ये सब समझ में आ जाएँ, पर ग्रीष्म से—सो भी उसके चिलचिलाते दिन से—यह लगाव कुछ वैसा लगता है, अब तक पण्डितों की कृपा से जिस कालिदास से परिचय है, उस कालिदास के अनुरूप नहीं लगता । रति के चरणों में महावर लगाने बैठा था, अभी दायें पैर में लगा पाया था, इतने में मालिक ने तलब किया, कामदेव बायाँ पैर अनरँगा छोड़कर चला गया । कालिदास, तुम रति के स्वर में उस कामदेव को बार-बार गुहारनेवाले कवि, कैसे तुम ग्रीष्म के मुरीद हो गये ? तुम तो नवमालिका के सहचर, किस नशे में अवधूत शिरीष के नीचे छँहाने चले आये ?

लगता है कि कहीं मूल में गड़बड़ी है । जिस संस्कृति और जिस देश के कवि हो, उसीका कुछ अपना औघड़पन है, शिशिर को झेलना हुआ तो अपात हो गया, वसन्त को चुनौती देना रहा तो कुसुमित हो

गया और ग्रीष्म को ललकारना रहा तो पत्राकुल और छतनार हो गया, वर्षा की बूँदों की ताल पर उच्छिलीन्ध्र होकर नर्तनशील तथा शरद् की शुभ्रता पर काशों के व्याज से मुक्त भाव से हँसने पर उतारू; हेमन्त की लम्बी रातों को तारों के अनझिप नयनों से देखने का व्रती, ऐसा है हमारा देश और ऐसा है उसका संस्कार । सुकुमारता और ताप का अद्भुत साहचर्य है, शिरीष की सुकुमारता ग्रीष्म के ताप की ही परिणति है ।

× × ×

कालिदास का पानी आग पर चढ़ आया है, आग यदि जलाती है, तो आग ही बुझाती भी है । अधसँवराए दिन की रमणीयता ग्रीष्म में है और ग्रीष्म की रमणीयता उस दिन की अर्धश्यामता में है, उसकी परिणति में है । तपोवन में शान्ति ढूँढ़ते रहें; ऐसे थके-हारे कवि कोई और होंगे, कालिदास नहीं । कालिदास तपोवन में वह निगूढ़, वह दाहात्मक तेज ढूँढ़ते हैं, जो राज्यसत्ता की चमक में नहीं है, ऐश्वर्य में नहीं है, वह तेज तपोवन के छने हुए प्रकाश में है । तप के साथ जिसका सौदा न हुआ, वह तेज सुरूपता वन्ध्या है । तप से जो मद न हुआ, वह ऐश्वर्य ओछा है । तप से जो ज्ञान नहीं निखरा, वह ज्ञान ठूँठ है । भारतीय चिन्तन में तप शरीर को कष्ट देने की साधना नहीं, समस्त ऐन्द्रिय-व्यापार को अनुशासित करने की साधना है, शरीर को और मन को सूक्ष्म और गहरे छंद में भरने की साधना है, तप संवत्सर-रूप यज्ञ है, काल को हथेली पर रखकर चलते रहने का व्रत है, वह जीवन की सहज पर लयबद्ध गति का निरंतर अन्वेषण है । भारतीय तपोवन में आहुतिगन्धी धूम है, क्यारियों में लबालब पानी है, अदृश्य अग्नि है, परिलुप्त विश्वास है, सत्य की; निर्भयता की जाँच है, ऋत की (समाज की गति की) निर्मल निर्झरिणी है । भारतीय दृष्टि तप से ही ऋत और सत्य को, चन्द्र और सूर्य को उद्भूत मानती है । वह प्रक्रिया को कृति से जोड़कर रखनेवाली दृष्टि है, इसीलिये दोनों संध्याएँ पवित्र वेलायें हैं, ध्यान-वेलायें हैं । सायंकालीन संध्या आत्मप्रकाश से जगमगानेवाली भीतर

की ज्योतिष्मती को जगाने का उपक्रम करता है, तो प्रातःकालीन संध्या बाहरी सौन्दर्य को प्रस्फुटित करती है। कालिदास जीवन की स्तुति तो करते हैं कमल के माध्यम से, पर जीवन की परख करते हैं दीप के माध्यम से। जो जली नहीं, जिसने अपने-आपको जलाया नहीं, वह बाती भी क्या बाती है ?

कालिदास, तुम भारत के कवि ठहरे, भरत नामक अग्नि के उपासक देश के कवि ठहरे, वाणी को भरत अग्नि से एकाकार करनेवाली वर्चस्विनी संस्कृति के कवि ठहरे, तुम्हारी अग्निगर्भा शमी शकुन्तला के कानों में शिरीष को लटकना ही चाहिए। शिरीष भारतीय अनुश्रुति का बीज़ाक्षर है, जिसे सुना जा सकता है, पढ़ा जा सकता है, जपा जा सकता है, पर जिसे छुआ नहीं जा सकता। छूते ही वह मुरझा जाता है, हाथ से गहते ही वह मन्त्र नहीं रह जाता। भारतीय परम्परा को जिसने पकड़ा, उसने इसे नष्ट कर दिया, जिसने इसे ध्याया, इसे कानों लगाया, उसने इसे और इसके साथ अपने को नये सिरे से सिरजा लिया। ग्रीष्म का ताप, तिरस्कार की सुलगती आग, अपनों से बिछोह, अपने सर्वस्व से घात जो झेले, इसलिए कि नई सृष्टि का दायित्व अपने ऊपर ओढ़ना है, उसको शिरीष की पात्रता मिलनी चाहिए। कमल है, वह हाथों में बना रहे, सौष्ठव का योग कर्मेन्द्रिय से बना रहे, पर श्रवणों में शोभा शिरीष की है, गदराये शतदल की नहीं। कालिदास का आकाश जेठ का आगभभूका आकाश है, प्रचण्ड सूर्य आकाश है, पर उस आकाश की सत्ता को प्रमाणित करनेवाली उनकी वाणी शिरीष-सी शुभ्र, ऋजु, कोमल और शीतल है।

× × ×

यह शुभ्रता, यह ऋजुता, यह कोमलता और शीतलता संगति पाती है मातृत्व की उच्छल वत्सलता से, उस वत्सलता में उमहकर समस्त बाह्य सौन्दर्य एक मृणालसूत्र रह जाता है, मृणालसूत्र भी कैसा, शरच्चन्द्र मरीचि से भी अधिक झीना, पर अमृत से दीप्तिमान। चित्र पूरा तभी होता है—

न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं ।
मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥

मृणाल धरित्री का सम्बल है, पार्थिव सम्बन्ध का सूत्र है। वह जोड़ता है हंस को कैलास और मानसर से, वह जोड़ता है अनुतापी को अनुतप्ता से, विस्मृति को पहचान से, विधि को श्रद्धा से। वह महीन है, पर है बड़ा मजबूत। वह इस जीवन-यात्रा का पाथेय है, मातृत्व की वत्सल शक्ति ही महत्त्व को जन्म देती है। हमारी संस्कृति की सन्तान-परम्परा इसीलिए कभी उच्छिन्न नहीं होती, हम शक्ति को पौरुष में नहीं, स्त्रीत्व में, पूर्णत्व में साकार देखते हैं।

कालिदास की शकुन्तला भरत की जननी ही नहीं, भारत की जननी है, वही भारत की वन्दनीय भारती है, तपोवन से राजद्वार, राजद्वार से फिर दूसरे तपोवन की शरण में गई, प्रमाद घुलकर क्षमाप्रार्थी बनकर आएगा, इस आशा में विरहव्रत धारण किये हुए है, पुत्र सर्वदमन जो है। झेल लो ग्रीष्म का तांप, झेल लो दुष्यन्त की विस्मृतिजन्य अवज्ञा, शकुन्तले, तुम्हारे आश्वासन कालिदास हैं, राजा के रत्न कहलाये जाकर भी जो राजवंश का वर्णन करते-करते अग्निवर्ण तक पहुँच जाते हैं और राजसत्ता की विलासिता पर ही चोट कर बैठते हैं, आकाश तक रथ पर उड़ान भरते-भरते आश्रम की भूमि देखते ही नीचे उतर जाते हैं, वसन्त की शोभा बिछाते-बिछाते काम-दहन पर आ जाते हैं। ग्रीष्म के ये दिन ही तुम्हें छाँह करेंगे। यह मर्यादा के लिए संघर्ष ही तुम्हें तपाकर कुन्दन बनायेगा, अपने को चिन्हवाना चाहती हो, तो शेर के दाँत गिननेवाले बच्चे को अपना तेज दो, तुम दुष्यन्त की हृदयेश्वरी होकर नहीं, भरत की जननी होकर ही सही माने में प्रत्यभिज्ञा पाओगी। हाँ देखना, शिरीष न खिसके, कानों में कोई पुरुष स्वर न गूँजे। तुम्हारे कानों में शिरीष के उज्ज्वल स्वर गूँजते रहें, भरते रहें, आँखों में सविता के तेज को चुनौती देनेवाली दीप्ति दमकती रहें, चरणों में कुशसंचरण से रक्त महावर रचता रहे, हाथों में कमल लीलायित रहे। ग्रीष्म ढलेगा, वर्षा थमेगी, शरद् आकर रहेगी।

मूल्य—१२.००